अजी सुनो...
गोपाल प्रसाद व्यास

अजी सुनो....!

लेखक की अन्य रचनाएँ

मैंने कहा . . . !

पृष्ठ १३४ (सचित्र) **मूल्य तीन रुपये**

इस पुस्तक में व्यासजी के व्यंग-विनोदपूर्ण लेखों का संकलन है। हिन्दुस्तान के मशहूर कार्टूनिस्ट श्री अहमद ने इन लेखों पर कई आकर्षक कार्टून बनाए हैं, जो पुस्तक में दिये गये हैं। इस पुस्तक की रचनाओं का अनुवाद गुजराती, मराठी, बंगाली आदि प्रान्तीय भाषाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी में भी हुआ है। 'मैंने कहा' पर लेखक को कई पुरस्कार भी प्राप्त हो चुके हैं। व्यासजी का हास्य गद्य में और भी निखरा है। उनके गद्य की यह विशेषता है कि उसमें उर्दू की-सी रवानगी, बंगला की-सी मिठास और मराठी जैसा उक्ति-वैचित्र्य पद-पद पर समाया रहता है। व्यासजी का विनोद फूलों जैसा हलका और उनका व्यंग्य अपनी भाव-भूमि पर बारीक-से-बारीक है।

कदम-कदम बढ़ाए जा

पृष्ठ ९४ (तीसरा संस्करण) **मूल्य एक रुपया चार आना**

व्यासजी व्यंग्य-विनोद ही नहीं लिखते, उनमें वीर रस लिखने की भी अद्भुत क्षमता है। प्रस्तुत पुस्तक में ओजपूर्ण भाषा में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के स्वतंत्रता-संग्राम का पराक्रमपूर्ण ऐतिहासिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी में यह वीररस-पूर्ण खंडकाव्य अपनी परम्परा में एकदम मौलिक और राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत है।

हमारे राष्ट्रपिता

पृष्ठ १५४ (दूसरा संस्करण) **मूल्य दो रुपये**

यों गांधीजी पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं, लेकिन उनके जीवन और दर्शन को एक ही जगह संक्षेप में आकर्षक कवि-वाणी से व्यक्त करने वाली यह प्रथम प्रामाणिक पुस्तक है। इस पुस्तक की सराहना सबने मुक्त कंठ से की है। आचार्य विनोबा भावे ने स्वयं इसकी भूमिका लिखी है और राजर्षि पुरुषोत्तमदासजी टंडन ने इसके दो शब्द।

गांधी चरित

पृष्ठ ५२ **मूल्य आठ आना**

बालकों और प्रौढों के लिए सरल और रोचक भाषा में मोटे टाइप में गांधी जी की यह प्रामाणिक जीवनी बाल-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है।

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

अजी सुनो....!

लेखक
श्री गोपालप्रसाद व्यास

१९५६
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली-६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

पहला संस्करण : १९४८
दूसरा संस्करण : १९५६
मूल्य ५)

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
१०, दरियागंज, दिल्ली

अपनी ही
पत्नी को
सादर,
सप्रेम
और
सभय

बहू-मति

मेरी पत्नी के विचार से कविता, खासतौर पर मेरी तुकबन्दी, बिल्कुल वाहियात चीज़ है। उनका कहना है कि मैंने अपनी इस अक्लमन्दी से——न तो उनके मातृकुल और न अपने पितृकुल——किसीका भी नाम रौशन नहीं किया। अनेक बार अपने इस विश्वास को वे ऐसी दृढ़ता से दुहरा चुकी हैं कि सचमुच मैं अपनी बुद्धिमानी के बारे में निराश नहीं तो आशंकित अवश्य हो उठा हूं।

लेकिन दूसरी ओर, कवि-सम्मेलनों द्वारा लाखों श्रोताओं ने, पिछले संस्करणों के हज़ारों पाठकों ने, अखबारों, आलोचकों और रेडियो के डायरेक्टरों ने मेरी इस मूर्खता की, मुफ़्त और नकद, भूरि-भूरि सराहना की है।

एक ओर विशाल बहुमत ह और दूसरी ओर अकेली, अतुलनीय, अनुपेक्षणीय, जबर्दस्त बहू-मति ! समझ में नहीं आता क्या करूं ?

पर सुना यह है कि अधिक बुद्धिमानी से अजीर्ण होजाता है। इसलिए अभी तो बेवकूफी से ही चिपटा हुआ हूं। आगे की भगवान जाने।

'हिन्दुस्तान'
नई दिल्ली
५-१२-४८

गोपालप्रसाद व्यास

कुछ और भी

संस्करण दूसरा हो, मगर इस संग्रह की रचनाएं चौथी बार छप रही हैं। एक बार ये 'नया रोजगार,' दूसरी बार 'उन' का पाकिस्तान' और तीसरी बार 'अजी सुनो' के पहले संस्करण के रूप में इन रचनाओं ने स्थान पाया है।

इन कविताओं को मैंने कभी लिखा अवश्य था, पर अब ये मेरी नहीं रहीं—अब ये आपकी हैं, यानी जनता की हैं। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण इस महादेश में, मैं जहां भी गया, मुझसे पहले ये रचनाएं जनता के कंठ में, सहृदयों के मानस में अपना आसन जमाए हुए थीं।

मैं हैरान हूं कि बिना किसी आलोचक की वकालत के इन रचनाओं ने कैसे स्वयं अपना एक अलग से वाद स्थापित कर लिया ! मुझे नहीं, मेरी पत्नी को अवश्य ही इसका श्रेय मिलना चाहिए कि उनके पवित्र माध्यम से हिन्दी-साहित्य में एक नये वाद की सृष्टि हुई !

एक बात और। सन् '४८ के बाद, अर्थात् स्वतंत्रता के पहले, मुझमें जो तीखापन, तलखी और आक्रमण करने की वृत्ति थी, मैं उसे प्रयत्नपूर्वक धीरे-धीरे छोड़ रहा हूं। सोचता हूं शुद्ध व्यंग्य-विनोद के लेखक को इनसे परहेज़ रखना आवश्यक है। विनोद कुसुम-सरों पर बैठकर दिल में पैठने का आदी है, तलवार की मार का उससे सरोकार क्या ?

इसी दृष्टिकोण से इस संग्रह की अनेक रचनाओं की कड़वाहट को मैंने काट दिया है। व्यक्तिगत या जातिगत आक्षेपों के पंख मैंने जान-बूझकर कतर दिये हैं—मैं नहीं चाहता कि एक की हँसी दूसरे के कष्ट का कारण बने।

बस, धन्यवाद इस दूसरे संस्करण के प्रकाशक श्री रामलाल पुरी को, और धन्यवाद अपने व्यंग्य चित्रकार मित्रों—श्री शिक्षार्थी और श्री रवीन्द्र को, जिन्होंने अपनी प्रतिभा से इन रचनाओं को अलंकृत किया। पाठकों से जो कहना है उसे अगले काव्य-संग्रह के लिए सुरक्षित रखता हूं।

दिल्ली
१६-२-५६

गोपालप्रसाद व्यास

सूची

१

डबल भैंस !

(अप्रैल, १९४०)

ओ, बाबूजी की डबल भैंस !
मेरी कुटिया में घुस आई,
तू बाबूजी की डबल भैंस !
ओ, बाबूजी की डबल भैंस !

ओ, काली-सी, मतवाली-सी,
क्यों बिना सूचना घुस आई ?
समझा होगा शायद तूने
इसको कालिज का खुला 'मैस' !

ओ बाबूजी की . . .

मैं जीव-ब्रह्म का भेद, बीच में
माया का पचड़ा लेकर,
चल दिया आज सुलझाने को
युग-युग की विषम समस्याएं ।

हूँ बाबूजी भी खूब, गल में
घंटी तलक न बांधी थी;
मैं चौंका, टूटा ध्यान, हाय !
भावों को भारी लगी ठेंस !

ओ बाबूजी की . . .

उस रोज़ सुनहला मौसम था,
दिल रह-रह कर खोजाता था।
बादल छाए, बह रही पवन
सूरज भी निकल न पाता था।

थी फूट पड़ी कविता मुझमें,
मैं बैठा छन्द बनाता था,
अपनी 'कल्पित-इच्छित' प्रेयसि का
रूठा प्यार मनाता था।

तो घर के बर्तन खनक उठे—
"क्यों, दफ्तर आज न जाना है ?
लकड़ी लाओ, घी नहीं रहा,
लो, उठो, शाक भी लाना है।

तुम छोड़ो अपने गीत, मुझे
भी तो गीतों में जाना है ।
जी, उठो-उठो, क्यों देर कर रहे,
चूल्हा मुझे जलाना है ।

बस बैठ गए काग़ज़ लेकर
कुछ और काम तो हुई नहीं,

हा ! फूट गई तक़दीर, मौत भी
आती मुझको नहीं दई !

इससे तो बेहतर था गरीब
घसियारे को ब्याही जाती ।
वह मुझसे करता बात, और
मैं अपने मन की कह पाती ।"

यों कह कागज़ फाड़ा उसने,
लौटी दवात सदमा खा कर ।
औ' कलम गिरी, कुचली कुर्सी से
दूर गिरा मैं भी जा कर !

क्वेटा जैसा भूकम्प, आज भी
आया था मेरे ऊपर ।
है बाबूजी का दोष, भैंस
बांधी न गई घर के अन्दर ।

यदि भैंस बंधी होती तो क्यों
हो पाता ऐसा विकट 'क्लैश' ।

ओ बाबूजी की

ऐ भैंस ! अभी तक मैं तुझको
अक्कल से बड़ी समझता था ।
रे महिषी ! अब तक मैं तुझको
अपरूप सुन्दरी कहता था ।

तेरी जलक्रीड़ा मुझे बहुत ही
सुन्दर लगती थी, रानी !

तेरे स्वर का अनुकरण नहीं
कर सकता था कोई प्राणी।

पर, आज मुझे मालूम हुआ
तू निरी भैंस है, मोटी है !
काली है, फूहड़ है, थल-थल,
मरखनी, रैंकनी, खोटी है !

मेरे ही घर में आज चली
तू पाकिस्तान बनाने को ?
मेरी ही हिन्दी में बैठी
तू जनपद नया बसाने को ?

मैं कहता हूं हट जा, हट जा,
वरना मुझको आरहा तैश !

ओ बाबूजी की...

२

ठंडी सड़क !

(जून, १९४०)

सुबह ताकत के लिए दौड़ते हैं
बड़े गोल-मटोल-से तौलने वाले !
दस से बस दौड़ते हैं वह शिष्य
जो नब्ज गुरू की टटोलने वाले !
बाद में दौड़ते देखे 'पियून', जो
बीच ही में ख़त खोलने वाले !
शाम को दौड़ती कारें, चढ़े
रहते हैं बड़े रस घोलने वाले !

ललनाएं यहां चलती हैं लचक,
प्रमदाएं यहां चलती हैं मचक,
सिकुड़ी-सी,सड़ी-सी,कलूटी कुमारियाँ
भी चलतीं नज़रों से बिचक !

इन्हें देख जो पाते कहीं कवि केशव
तो उनका मन जाता फड़क !
दिल जाता धड़क !
बड़ी ठंडी सड़क !
बड़ी ठंडी सड़क !

यहां कालिजों,
होस्टिलों की बड़ी 'फील्ड' के
पार्श्व के कुंज,
बरामदों के तले,
घूमते - बैठते
मोद - विनोद में
यों चर्चाएं चला करती हैं—

आओ बसन्त, सिनेमा चलें
बड़े ठाठ से नाच रही है अजूरी !
नृत्य का ज्ञान किये बिना मित्र,
सोसायटी रहती सदा ही अधूरी !
लगा सिर्फ अगस्त, अभी से तुम्हें
पढ़ना-लिखना क्यों हुआ है जरूरी ?
अरे, ऐश करो, पढ़ने के लिए तो
पड़ी हुई है अभी ज़िन्दगी पूरी !

अकाल नहीं जिन्हें व्यापता है,
दुष्काल खड़ा - खड़ा काँपता है,
रौब है, एक ही डाट में 'मैस' का
नौकर भूमि को नाँपता है।

इनमें है छिपी बिजली की कड़क !
विस्फोट हैं ये, बम की या भड़क !
बड़ी ठण्डी सड़क !
बड़ी ठण्डी सड़क !

मिल के मज़दूर, कहीं मिल के
'डिस्पर्स' जलूस-से झूमने आते !
झुण्ड - के - झुण्ड कुमारियों के
हुई शाम, यहां ही झलूमने आते !
घर में घरनी के सताए हुए
घबराए हुए कुछ घूमने आते !
प्रेयसी छोड़ गईं पद-चिन्ह,
सुचप्पलों के उन्हें चूमने आते !

यह कौन चले जारहे हैं अचक ?
इन्हें देख के होता यही मुझे शक !
कि जो वस्त्र ये मर्द-से दीखते हैं
वे प्रसूति-से शीघ्र उठी,
किसी नायिका के तन पर पहनाए गए
सचमुच, बिलाशक !

अजी शाह हैं, ताजा विवाह हुआ,
इन्हें टोकिए न, चले जारहे हैं,
नये खेल में सीखने प्रेम का पाठ,
कि ठंडी पड़ी हुई प्रीति की आग,
उठे फिर से दिल में बेधड़क !
बड़ी ठण्डी सड़क !
बड़ी ठण्डी सड़क !

३

खोगई-खोगई !

(सितम्बर, १९४०)

(१)

वह थी कलम,
'फाउन्टेन' कहा करता था,
लिखता था जिससे
नित्य पत्र ससुराल को,
क्योंकि श्रीमतीजी के
रिश्ते थे अनेक
और उन सबको
निबाहना ज़रूरी था।

मेरी मुनीम,
जो रोज़ लिखा करती थी—
धोबी का हिसाब,
नई 'लिस्ट' खरीदारी की,
कर्ज़ दोस्तों का,
औ' अशेष हाल वेतन का,
सोते वक़्त डायरी—
रिकार्ड गए जीवन का।

हाय, चिरसंगिनी !
अजस्त्र मसि-धारिणी !
जो भावों के बिना ही
नये गीत लिख देती थी,
खुद न खरीदी
किसी मित्र की धरोहर थी,
आज देखी जेब तो
प्रतीत हुआ खोगई !

खोगई-खोगई !

(२)

बहुत दिन बाद
आज कविता जगी थी,
चित्र सुन्दर लगा था,
एक नया दृश्य देखा—
कि छवि चाहता था
आंकना उस मोहिनी की
जो मेरे पड़ोस के
मकान में अतिथि थी।

स्यामा थी,
सलोनी थी,
न षोडशी थी, किन्तु
वह डेढ़ हाथ ही की
जन-मन को वेध लेती थी।
उसकी चपलता
अंग-भंगिमा,
दृगों के भाव—

सुन्दर थे,
भव्य थे,
समुत्तम थे,
बढ़िया थे।

बाबू कप्तानसिंह
शिमले से लाये थे,
वह झबरीली थी
विलायती नसल की,
साहब मजिस्ट्रेट
पाकर प्रसन्न होंगे
और 'रायसाहबी' के
'चान्स' बढ़ जाएंगे।

कुतिया नहीं थी
कामधेनु ही कहेंगे,
वह 'रायसाहबी' का
मानो स्वप्न साकार थी,
'पपी' कहा करते थे
बाबू कप्तानसिंह
घर में 'ममी' से बढ़ी
उसकी वक़त थी।

टांगें फैलाकर
थी पड़ी हुई कोच पर,
बाबू कप्तानसिंह
उसे सहला रहे थे,

मन्द-मन्द गारहे थे,
कोई अंग्रेज़ी गीत।

आज इसी छवि को
मैं गीतबद्ध चाहता था,
ाड जो निकाला तो
ापी ने मुझे धोखा दिया—
कोच पर से उछली
कि मेज पर उचक गई ?
ारदे में दुबकी
कि अन्दर खिसक गई ?
खिड़की से कूदी
या किवाड़ से बिचक गई ?
यहां गई ?
वहां गई ?
नहीं-नहीं, कहां गई ?
यह गई, वह गई !

खोगई-खोगई !

(३)

इसी रंज-ग़म में
निमग्न कवि बैठे थे
कि अन्दर के कमरे का
सहसा खुला द्वार · · ·
श्रीमती पधारीं—
'कवि, दुनिया में लौट चलो'

भोजन करने का भी
तक़ाज़ा हुआ बार-बार।
बोल उठीं—
"कोई परवाह नहीं,
लेख जो न छपते हैं,
कविताएं लौटतीं,
न चलती कहानियां,
मरे सम्पादक !
तुम्हें क्या पहचानें ख़ाक !
मैं जानती हूं तथ्य
आपकी प्रगति का !

मरने दो किसी—
पत्रिका के संपादक को,
होने दो जगह रिक्त
रेडियो स्टेशन में,
फिल्मों में हिन्दी-गीत
अब चल निकले नाथ !
आप छोड़ दूसरा
बुलाया कौन जायगा ?

अस्तु, उठ बठिए
बनाया है ज़मीकन्द
मांगकर पड़ौसिन से
पैसे कुछ उधार आज,
रद्दी इन किताबों की,
सचित्र अख़बारों की,

सुनती हूं आजकल
तेज बिक जाती है।"

मेरी ये किताबें !
जिन्हें जान से जुटाया है !
नाश्ते का खर्च काट,
बी० पी० से मंगाया है !
खुद को ठगाया है !
वक्त पड़ने पर
होशियारी से उड़ाया है !
रद्दी की चीज हुई ?
शाक ज़मीकन्द का,
पड़ौसिन के पैसों से !
जायँगे चुकाए
जो सचित्र अख़बारों से ?
जिनमें छपे हैं,
मेरे लेख, गीत,
एक-एक शब्द
अनमोल लाख रुपयों से !

शाक ज़मीकन्द की
नहीं रही चाह मुझे,
तुझ-सी अशिक्षित,
अलौनी,
बेढंगी,
बुरी,
भौंड़ी,
पत्नी की, नहीं नेंक परवाह मुझे।

कविताएं लौटती हैं ?
फिल्म-स्टेशन ?
पत्रिका के सम्पादक ?
मुझसे करती मज़ाक !
हाय, अकल खोगई !

खोगई-खोगई !

४

तुमने मुझको क्या समझा है ?

(अक्तूबर, १९४०)

(१)

मैं कवि हूं नई जवानी का
लिक्खे हैं मैंने अमित गीत;
यद्यपि उनका छपना बाकी
पर शेष रहा उत्साह नहीं—
मैं कई बार होआया हूं
हाकिम के दर, लाला के घर,
उन प्रकाशकों के भी सर पर
अक्सर मँडराया करता हूं—
जो मुफ्त छाप करके पुस्तक
एहसान दिखाया करते हैं !
तुमने मुझको क्या समझा है ?

यद्यपि मेरा स्वर भारी है—
उसमें पंचम के बोल नहीं;
लेकिन लहजा कुछ ऐसा है
जिसमें मिठास है, मोशन है
मानो सहगल ही गाते हों—
पहने केवल धोती-कमीज़ !
तुमने मुझको क्या समझा है ?

कविताओं का बाज़ार यहां,
हर माल हुआ तय्यार यहां,
'शाश्वत सत्यों' की मुझ-जैसी
किसमें है उठी पुकार कहां ?

मैंने लिक्खे हैं प्रणय - गीत
युवकों का मन बहलाने को ।
मैंने लिक्खे हैं राष्ट्र - गीत
जनता में ज्योति जगाने को।

मैंने लिक्खे एकान्त - गीत
मस्ती में कभी सुनाने को।
मैंने लिक्खे हैं अनल - गीत
भी प्रगतिशील बन जाने को !

मैंने लिक्खे हैं विदा - पत्र
रो - रोकर अश्रु बहाने को।
मैंने लिक्खे हैं स्वागत के
शुभ गीत शान दिखलाने को ।

मेरी पैरोडियाँ खूब चलीं
छप चुकीं अनेकों पत्रों में,
मुण्डन, विवाह, यज्ञोपवीत के
तो फिर गीत अनेकों हैं ।

तुमने मुझको क्या समझा है ?

(२)

है एक और मेरा पहलू—
मैं अति विनम्र, मैं अति उदार,
है मेरी पैठ रईसों में।
है मुझको ऐसा स्नेह स्वयं
उन नन्हे, छोटे बच्चों से,
सुकुमार दुधमुंहे शिशुओं को
रोता न देख मैं पाता हूं;
माताओं से भी छीन उन्हें
हलराता हूं, दुलराता हूं,
गाता हूं गीत लोरियों के
पलनों पर उन्हें झुलाता हूं।

इस कारण बीबीजी प्रसन्न,
बच्चे मुझसे बेहद खुश हैं,
पापा से जाकर कहते हैं
बाबूजी हैं मुझसे प्रसन्न!

'ट्यूशन' मिलने का मूल मन्त्र,
'सर्विस' मिलने की प्रथम कड़ी,
आदर की, प्रेम - प्रतिष्ठा की
शुरूआत यहीं से होती है!

तुमने मुझको क्या समझा है?

५

इतना ही क्या मुझको कम है !

(जनवरी, १९४३)

इतना ही क्या मुझको कम है !

एक पत्नी है, दो बच्चे हैं,
पुस्तक भर-कर अलमारी है।
दुनिया लेखक - लेखक कहती
करती सराहना प्यारी है ।

क्या हुआ समालोचक मेरी
रचना की करते कद्र नहीं,
फिर भी मैं लिखता रहता हूं,
छपने का क्रम भी जारी है ।

रचनाएं नहीं लौटती हैं
पारिश्रम का फिर क्या ग़म है ?
इतना ही क्या मुझको कम है !

तुम कहते हो कि प्रकाशक
मेरा खून चूसने को तत्पर।
मैं कहता हूं यह ग़लत, उन्हें
अफ़सोस हमारी किस्मत पर ।

वे मुझे देख होते प्रसन्न,
मिलते ही पान खिलाते हैं।
वापस आता हूं दरवाजे तक
आकर खुद पहुंचाते हैं!

'रायल्टी' भले देर से दें
व्यवहार मगर सुन्दरतम है!
इतना ही क्या मुझको कम है!

लेखन कोई व्यवसाय नहीं,
जिसमें कि लाभ देखा जाए!
लेखक कोई मज़दूर नहीं,
जो काम करे रोज़ी पाए!

लेखन तो उग्र तपस्या है,
हिन्दी का लेखक वैरागी!
बिन मांगे भी देता जाए,
कुछ भी न कहे, सहता जाए!

मैं भी अपना साहस बटोर
सहता जब तक मुझमें दम है।
इतना ही क्या मुझको कम है!

६

पत्नी पर कण्ट्रोल करो !

(अप्रैल, १९४३)

हे मजिस्ट्रेट महाराज ! हमारी पत्नी पर 'कण्ट्रोल' करो !

गेहूँ, शक्कर, घी, तेल, नमक,
माचिस तक पर 'कण्ट्रोल' हुआ,
तो यही एक क्यों बचे, प्रभोजी,
इसका भी कुछ मोल करो !
हे मजिस्ट्रेट महाराज . . .

मैं 'उन्हें' लाख समझाता हूं,
कहता हूँ—छिड़ी लड़ाई है ।
कम खाओ, बिल्कुल कम खर्चो,
दुनिया पर आफ़त आई है ।

वह कहती हैं—"दुनिया पर आफ़त
कम है, तुम पर ज़्यादा है ।"
यदि और कहूँ तो सच समझो,
लड़ने पर ही आमादा है ।

वह कहती हैं—"कण्ट्रोल खाक,
तुम देखो उन बाबू के घर

कल ही तो एक नई बोरी
गेहूँ की भरकर आई है।"

मैं हाय, उन्हें क्या बतलाऊं
वे 'सैक्टर वार्डन' हैं अपने,
पहले से नाम लिखाने की
वह हिम्मत अब फल लाई है।

फिर उनकी जान हथेली पर,
रहती है फ़र्जी हमले में,
उस मुकाबिले में ख़ाक एक
बोरी उनके घर आई है।

पर यह सुन कब चुप रहती हैं,
यूं बड़े ठाठ से कहती हैं—
"लल्ला के चाचा! तुम भी कुछ,
ऐसी ही जाकर पोल करो!"

हे मजिस्ट्रेट महाराज . . .

घर में गेहूँ के लाले हैं,
सन्दूकों पर भी ताले हैं।
हम बेकारी के घाले हैं,
पर उनके ठाठ निराले हैं।

मैं परेशान हूँ उनको ले,
वे मस्त हुई हैं मुझको पा,
कल ही तो एक नई चिट्ठी,
भाईजी को भिजवाई है।

लिक्खा है—"भाई, जल्दी से,
भाभी को लेकर आजाओ।
प्यारे मुन्नू की भोली - सी,
सूरत मुझको दिखला जाओ।

रुकना मत, तुम्हें क़सम मेरी,
तेरे जीजा कर रहे याद···"
(है गलत बात) कैसे लिख दूं,
तुम मत आओ, घर रुक जाओ!

मुन्ने को कपड़े, भाभी को
साड़ी, भाई को कोट-पेंट;
घी, तेल, नमक, शक्कर, सूजी,
जल्दी लाओ, जल्दी लाओ!

यह भी लाओ, वह भी लाओ,
कैसे लाऊं ? 'कण्ट्रोल' हुआ।
फिर यह कब मुमकिन है उनके
'आर्डर' पर टालमटोल करो।

हे मजिस्ट्रेट महाराज···

तुम पर भी बड़ी मुसीबत है,
रह - रह 'कण्ट्रोल' खतम होता।
मुझ पर भी बड़ी मुसीबत है,
रह-रह कर नया हुकुम होता।

तुमको भी हुकुम-उदूली का,
डर है, साहब, सच कहता हूं।

मैं भी अपनी 'घर-गवरमिंट' से
परेशान ही रहता हूं।

मैं तुमको खूब समझता हूं,
तुम भी कुछ मुझ पर ग़ौर करो।
मैं ठीक-ठीक ही बात आपसे
अर्ज़ आज कर देता हूं—

पत्नी पर काबू पाने से,
कण्ट्रोल सफल होजाएगा।
हम-तुम दोनों का काम,
एकदम से हलका होजाएगा।

फिर देखें, हिटलर कैसे बढ़
पाता है किसी मोर्चे पर ?
जापान बेचारा कभी नहीं,
भारत में आने पाएगा ।

फिर दुनिया के सारे ऊधम,
बिल्कुल समाप्त होजाएंगे;
गांधी चाहें मर जायँ, किन्तु,
हमको 'सुराज' मिल जाएगा।

मैं बात पते की कहता हूं,
मत सर को डांवाडोल करो।
हे मजिस्ट्रेट महाराज ...

७

अब नया धर्म निर्माण करो !

(अप्रैल, १९४३)

अब नया धर्म निर्माण करो !

दरवाज़े से ही कुशल पूछ, वापस अपना मेहमान करो !

मित्रों से बात करो घुल-घुल,
बेशक उनको घर आने दो।
यदि भेंट कभी ले आते हैं,
अच्छा है, उनको लाने दो।
पर इस कण्ट्रोल-काल में ऐसी
गलती कभी न कर देना,
जो कह बैठो उनसे झट यों—
आओ, प्रियवर, जलपान करो !

अब नया धर्म ...

झूंठी कथा—खिलाना पड़ता,
मिथ्या यज्ञ—कहां है आहुति ?
श्राद्ध-कर्म में जलांजली ही
श्रेष्ठ बताती आई है श्रुति !
तीर्थ-पर्यटन करने को अब
रेलें कहो कहां मिलती हैं ?

अरे, 'शेल्टर' की समाधि में
स्वयं मिलेगी पड़ी धर्म-द्युति!
नल पर यदि 'कण्ट्रोल' न हो तो
तुम संध्या बेशक कर डालो।
भूखे रहकर करो प्रार्थना,
अपना अगला जनम बनालो।
ब्राह्मण - भोजन पुण्य-कार्य में
आज सहायक हो न सकेगा,
स्वर्ग-प्राप्ति के लिए व्रतों का
ही सर्वत्र विधान करो!

अब नया धर्म · · ·

मरने वालों से कह दो तुम—
मरो नहीं, 'कण्ट्रोल' लगा है।
रुके रहो बच्चो प्रसूति में
अभी नहीं 'कन्ट्रोल' हटा है।
बच्चों के शादी - विवाह मुल्तवी
करो तुम युद्ध - काल तक,
जो जल्दी करते हों उनसे
कह दो—रे, कण्ट्रोल लगा है।

हुक्म नहीं जो यह मानेगा
वह 'डिफ़ैंस' में आजाएगा।
मरने - जीने से पहले ही
ठीक सज़ा वह पाजाएगा।
प्रेमी-प्रेमिक! किसी ज्योतिषी से

ही अपनी उम्र पूछकर,
खैर मनाकर ही अपना वह
प्रेम-वाण सन्धान करो।

अब नया धर्म · · ·

इस भारत के पुरुष-पुरातन
कन्द-मूल खाकर रहते थे।
अपरिग्रही, अमित सन्तोषी,
जो पड़ती थी सब सहते थे।
तुम उनकी सन्तान ! पेट में
कोठी है, या गुफा विधाता !
छै छटांक, हां छै छटांक से
भी सन्तोष नहीं हो पाता !

दस छटांक कम एक सेर को
कौन बताता है कम खाना ?
बन्दर की सन्तान मनुज ने
गेहूं खाना कबसे जाना ?
अधिकारों के लिए झगड़ना
हिन्दू कबसे सीख गये हैं ?
ज्वार, बाजरा, मक्का खाकर ही
पैदा सन्तान करो !

अब नया धर्म · · ·

८
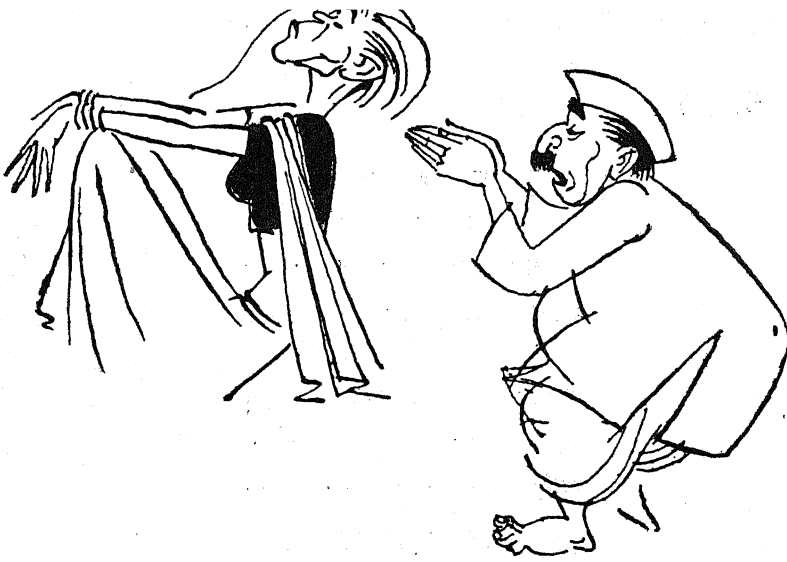
'उन'का पाकिस्तान !

(मई, १९४३)

आज कलम की धार कुण्ठिता, 'इन्कपाट' भी खाली है।
कविता कैसे नई लिखूं ? जब रूठ गई घरवाली है !

ओ घरवाली ! खामखयाली,
नाहक ही शमशीर निकाली,
वह शमशीर जो कि दुश्मन पर
कभी नहीं जाती है खाली ।

अरे, सुनो तो, सच कहता हूँ
संगिनि, रूपसि, रस की प्याली !
मैं कब गया सिनेमा ? तुमने
रोनी सूरत व्यर्थ बनाली !

और देर से घर आने का
कारण भी सुन लो कल्याणी !
मिस्टर जिन्ना की सुनता था
आज रेडियो पर से वाणी।

उनकी वाणी—ऐसी मीठी,
ऐसी सुन्दर, ऐसी कोमल,
जैसी कभी-कभी खुश होकर
तुम मुझसे कहती हो रानी !

उनके तर्क अकाट्य, कि जैसे
तुम कर देतीं मुझे निरुत्तर !
ज्ञानवान वह ठीक तुम्हारी तरह
बुद्धि से पूर्ण, प्रखर स्वर !

वह भी करते हैं प्रमाण के सहित
सदा ही तीखी बातें,
कौन पराजित नहीं हुआ है
उनका भीषण भाषण सुनकर ?

लम्बी नाक, छरहरी काया,
सब कुछ मिल जाता प्रमाण है।
'उन'का पाकिस्तान, तुम्हारे
पीहर बसने के समान है !

"चलो हटो, मत मुझे सताओ
आए, बड़े बनाने वाले !

तुम ही फजलुल हक पूरे हो
जिन्ना मुझे बनाने वाले !

अच्छा, मैं जिन्ना हूँ ? क्या
कर लोगे ? लो अकड़े बैठी हूँ !
मेरा पाकिस्तान मायका !
जाऊँ ? अब मैं भी ऐंठी हूँ !

ऐ राजाजी, क्यों फिर मेरे
चरण चूमने को आए हो ?
मैं न मानने वाली हूँ तुम
चाहे जितने घबराए हो ।

चलो हटो, बस, दूर रहो जी,
हर दम जिगर जलाने वाले,
रोज़-रोज़ दे वचन शाम को
देरी कर घर आने वाले !

मैं कहती हूं, आखिर तुमको
घर से क्यों इतनी नफरत है ?
मर क्यों जाते नहीं, निर्दयी,
ठग, शैतान सिनेमा वाले !"

हरे-हरे ! क्या कहा सिनेमा ?
यह आंखों का रोग भयंकर !
गांधीजी ने नहीं बताया
इसे गृहस्थों को श्रेयस्कर ।

उतरी हाय नसीम, कि
कानन ने भी अब शादी कर डाली!
चिटनिस 'ओवरएज', बहुत
लम्बी है वह बनमाला आली !

इन्हें देखने मैं जाऊँगा ?
तुम्हें छोड़कर घर की रानी !
तेरे एक-एक 'मोशन' पर
ये सब भर जाएंगी पानी ।

मैं तो कभी नहीं जाऊंगा
आगे से अब सुनो सिनीमा ।
मैं तो कभी नहीं आऊंगा
और देर से धीमा-धीमा ।

ये जिन्ना ऐसे ही हैं, जिस
जगह पड़ेंगे, यही करेंगे,
लाओ, भूख लगी है जल्दी
खाना दे दो लल्ला की मा !

९

हटो, मुझे भरती होने दो !

(जून, १९४३)

अब मुझको भरती होने दो !
रोको मत, भरती होने दो !

जीवन में रस शेष रहा क्या ?
अब भी और विशेष रहा क्या ?

दो-दो बार गया
उनके मैके—
वापस लेने को मैं;
पर आना तो दूर
सहज मुस्काकर
आदर कर न सकीं,
जी भर न सकीं
मेरा अपनी मीठी-
मीठी प्यारी बातों से,
आहों से, आहत
दिल को तर कर न सकीं
खुद जान-बूझ कर !

मैं कोशिश करता रहा—
कहीं मिल जायँ—
तो अपना सिर पटकूं,
कर पकड़ूं, चूमूं चरण
और अपने मन की
सब व्यथा कहूँ—

"श्रीमती, सुनो," कह दूं उनसे—
"मैं अब न मैस में खा सकता।
रस से भीगी बरसातों को
सूने में नहीं बिता सकता।"

पर, आना-सुनना दूर, रहीं
बचती-सी हाय, निगाहों से।
मैं असफल होकर फिरा, प्राय
सम्भावित सभी उपायों से।

अब रोती हैं तो रोने दो!
मुझको तो भरती होने दो!

१०

पति के मित्र !

(जून, १९४३)

मुझको न गलत समझो नारी,
मैं मित्र तुम्हारे पति का हूं !

मैं सज्जन हूं,
सन्तोषी हूं,
अच्छे कुल का हूं,
पढ़ा - लिखा;

हूं सुरुचि शील - सम्पन्न,
स्वस्थ—तन से, मन से,
मैं मानवीय दुर्बलताओं को
पास नहीं आने देता,
जिससे शिव, ब्रह्मा, नारद,
विश्वामित्र-सरीखे हार गए,
लक्ष्मी, रानी,
तुम सच समझो

मैं कुछ ऐसी ही मति का हूं ।
मैं मित्र तुम्हारे पति का हूं !

कल रासपुटिन की आत्मकथा
जो मित्र मांगकर लाए थे,
वह पुस्तक भद्दी, गन्दी है,
पड़ जाय न घर में हाथ किसीके,
वापस लेने आया हूं;

मैं दृढ़ चरित्र का व्यक्ति,
मुझे इन बातों से बेहद नफरत,
हे सहज सुशीले, सच कहता––
मैं सीधी-सादी गति का हूं !
मैं मित्र तुम्हारे पति का हूं !

मैं नहीं झांकता ऊपर को
मन में रख कोई भिन्न अर्थ,
और ऐसा भी है नहीं––
कि आंखें मेरे वश में न हों,
कि जिसने मन वश में कर रखा–
कि जैसे भारत की नारी
रहती पति के वश में ।

माना तुम सुन्दर हो सचमुच
शायद तुममें आकर्षण है,
पर यह सब ही पर्याप्त नहीं,
मेरे मन को छल सकने में;
मैं दृढ़ 'पत्नीव्रत' का पालक,
बालकपन ही से शिष्य रहा––
मैं एक कनफटे यति का हूं !
मैं मित्र तुम्हारे पति का हूं !

मैं आर्यसमाजी नहीं, बहनजी,
मुझे सुधारक मत समझो,
अब तक लखनऊ न गया,
रहा यूंही पढ़ने का शौक,
पढ़ा फ्रायड, पलटा है मार्क्स,
अनातोले, मोपासा रुचे,
धन्य हैं मेघदूत के छन्द,
मुझे विद्यापति बहुत पसन्द,
बिहारी, दूलह, देव, रहीम,
आदि की रचनाएं तुम पढ़ो,
सरस कितनी है उनकी उक्ति!
भाव कितने हैं उनके रम्य!
और इस युग के श्री जैनेन्द्र,
'सुनीता' उनकी कृति उदार,
इसे पढ़ना अवश्य सुकुमारि,
यही अनुनय है बारम्बार,
तभी तो समझोगी तुम देवि,
बात का मर्म, देह का धर्म!
खैर, मुझको इससे क्या इष्ट;
अरे, मैं गृही, निस्पृही, साधु,
विरोधी रति का, रती विरति का हूं!
मैं मित्र तुम्हारे पति का हूं!
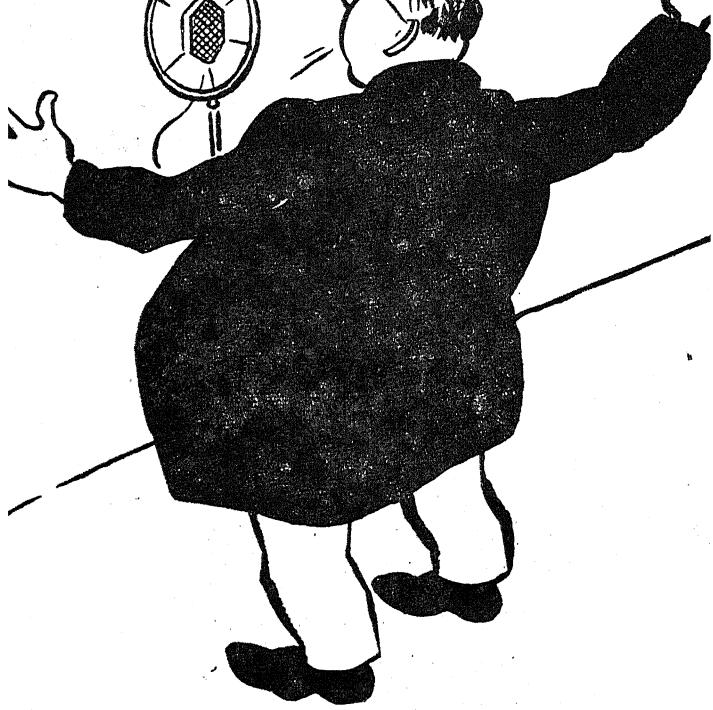
११

मैं अवसरवादी नेता हूं !

(जून, १९४३)

मैं अवसरवादी नेता हूं !
विधना से यही चाहता हूं,
मालिक से यही मांगता हूं,
मैं सारी रात जागता हूं,
और दिन-भर यही सोचता हूं—

सरकार सुपथ पर अड़ी रहे,
कांग्रेस जेल में पड़ी रहे,
जिन्ना को लेकर 'लीग' सदा ही
दूर अकेली खड़ी रहे ।

बस, यही वक्त है जनता में
अपना विश्वास जमाने का ।

बस, यही वक्त है गई लीडरी को
फिर वापस लाने का ।
बस, यही वक्त है बार-बार
रह-रहकर दिल्ली जाने का ।
बस, यही वक्त है जी हुजूर कह
कौंसिल में घुस जाने का ।
मैं यही सोच, अनुकूल वायु पा,
अपनी नौका खेता हूं ।
मैं अवसरवादी नेता हूं !

जिस समय कांग्रेस रंग पर थी,
मैं खद्दर शुद्ध पहनता था ।
उसकी जिस समय वज़ारत थी,
मैं भाषण देता फिरता था ।
मैं भी 'हरिजन' का ग्राहक था,
नित अनुशासन पर चलता था ।
मेरे घर में यरवदा - चक्र पर
बढ़िया सूत निकलता था ।

जब हुआ व्यक्तिगत आन्दोलन,
मैंने खुद को बीमार किया ।
मित्रों से आंख बचाकर के
घर में छुपना स्वीकार किया ।
यह एक समय की नहीं बात
इक्किस, इकतिस, इकतालिस में,
जब-जब जैसा मौका आया
वैसा ही रुख अख़्तियार किया ।

ख़तरे के समय कांग्रेस को
मैं नमस्कार कर देता हूं ।
मैं अवसरवादी नेता हूं !

मैं 'महासभा' की गति-विधि को
भी देख रहा हूं ठीक तरह।
मैं 'निर्दल-दल' के सम्मेलन में
भी जाता हूं जगह-जगह ।
मैं ढूँढ रहा हूं गुण-अवगुण
सब पाकिस्तान-योजना के,
देखो टेबिल पर पड़ी हुई है
'अखण्ड भारत' पुस्तक यह !

मैं देख रहा हूं युद्ध अभी
कितना लम्बा जा सकता है ?
मैं सोच रहा हूं समय अभी
कितना पलटा खा सकता है ?
मैं समझ रहा हूं कौन कहां पर
त्याग-पत्र दे डालेगा,
फिर किस तिकड़म से उस पद पर
मेरा नम्बर आ सकता है ?
बस इसीलिए ही बड़े लाट से
कभी-कभी मिल लेता हूं ।
मैं अवसरवादी नेता हूं !

चाहे कोइ आगे आये
हो लीग, सभा या निर्दल-दल।

तुम मुझको आगे पाओगे
पहली कतार में खड़ा अटल।
मैं तुम्हें बताए देता हूं
सत्ता मेरे कर में होगी,
मैं अमित पराक्रम, क्षिप्रबुद्धि,
मुझमें साहस, मुझमें है छल।
तुम कहते हो कांग्रेस कभी
जेल से छूटकर आजाए।
सरकार उसे शासन सौंपे,
सारा गुड़-गोबर होजाए।
मैं फिर भी नहीं रुकूंगा,
मैंने राह सोच ली है सीधी,
देखूं ऐसा है कौन, मुझे
जो वामपक्ष का बतलाए ?
चाहे पहनूं मिल के कपड़े,
टोपी खद्दर की देता हूं।

मैं अवसरवादी नेता हूं।

१२

हिन्दी का अध्यापक !

(जुलाई, १९४३)

मैं हिन्दी का अध्यापक हूं !

मेरी भी लम्बी चुटिया है,
है बन्द गले का कोट,
गोल टोपी,
लम्बा सिर, पूरा तन,
मैं खम्बा-सदृश,
चलायमान युग में हूं खड़ा हुआ अविचल;
अपने कालिज के घेरे में
'पंडितजी' कहकर व्यापक हूं !
मैं हिन्दी का अध्यापक हूं !

कुछ पत्नी से, कुछ बच्चों से,
कुछ ट्यूशन, कुछ यजमानी से,
मुझको कब फुरसत मिलती है—
दुनिया के नये समाचारों को,
अखबारों को,
सुन लेने की,
पढ़ पाने की।

फिर इस जग की नूतन चीजें,
नूतन ख़बरें,
नई व्यवस्था——
हैं अस्पृश्य,
अदृश्य,
मोहमय,
सब छलना है,
सब जड़ता है !
धोखा है,
सब प्रवंचना है !
इनसे जितना संभव होवे,
दूर-दूर रहना श्रेयस्कर !
इसी नीति से जगतीतल की
रीति-नीति का मापक हूं !
मैं हिन्दी का अध्यापक हूं !

सूर, कबीरा,
तुलसी, मीरा,
केशव की कविताओं का
मिनटों में अर्थ बता सकता हूं,
अलंकार के भेद-प्रभेदों का
आशय समझा सकता हूं,
इससे भी आगे बढ़कर
मैं शब्द-शक्ति पर
और व्यंग्य पर
चुप न रहूंगा

जगह-जगह पर
अपनी टांग अड़ा सकता हूं।

पर—
लड़के कम्बख्त,
पूछते मुझसे पंत, निराला, बच्चन !

अलंकार की जगह पूछते—
मुझसे रचना-शैली, मीटर !
ध्वनि-रसवाद विहाय, पूछते
छायावाद प्रगति में अन्तर !

हाय, पूछते—
जयशंकर की कविताओं के अर्थ निराले !
कहो, क्यों नहीं मर जाते हैं
इन्हें 'कोर्स' में रखने वाले ?

कभी पूछते—
पंडितजी, कवि के मन में पीड़ा क्यों होती ?

मैं कहता—
गुमराह होगए हैं
ये सब कवि हिन्दी वाले !
घर के गीत,
प्रकाशक अपने,
जो लिख मारा, छपा लिया सब,
अन्धे पाठक झूम-झूमकर
व्यर्थ हुए जाते मतवाले !

लड़के हंस पड़ते उत्तर सुन,
चन्द लड़कियां मुस्का देतीं,
मैं भी हंस पड़ता
अपने उत्तर की गुरुता का ख़याल कर,
इसीलिए समझे बैठा
ख़ुद को विद्वान् विलाशक हूं !
मैं हिन्दी का अध्यापक हूं !
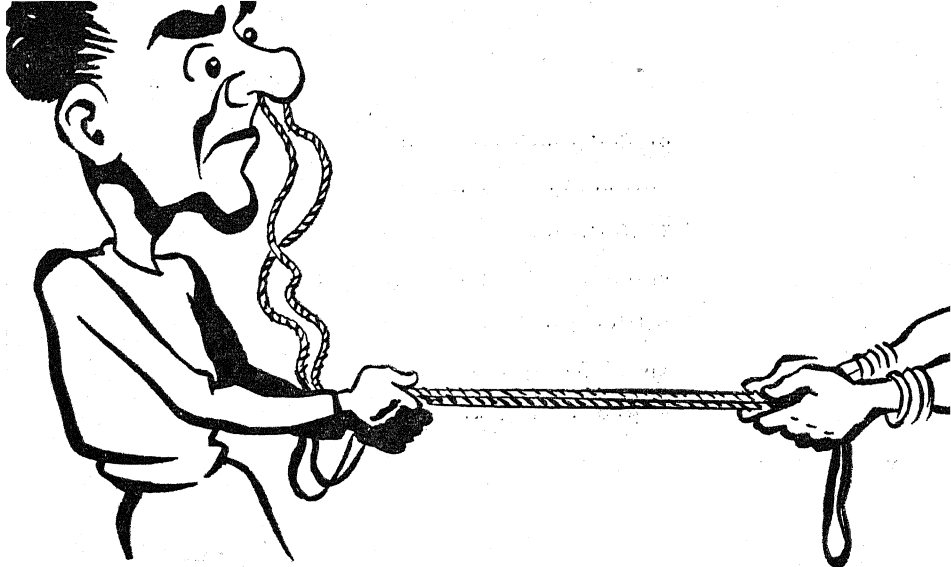
१३

यह झगड़ा मुझे पसन्द नहीं !

(जुलाई, १९४३)

जो प्रातःकाल उठूं जल्दी
दीए जलते घर आजाऊं ।
फिर ठीक तुम्हारी रुचि का भोजन,
नियत समय पर खाजाऊं ।
मैं आज मिला किससे, कब, क्यों,
यह तुम्हें शाम को बतलाऊं ।
राज़ी से या नाराज़ी से
इकला न सिनेमा जा पाऊं ।

मैं कभी तुम्हारी किसी सहेली
से भी हँसूं, न बोल सकूं ।
धोखे से भी सन्दूक तुम्हारा
कभी नहीं मैं खोल सकूं ।

तुम मेरी डाक स्वयं लेकर
पहले ही पढ़ने लग जाओ।
मिलने वाले मित्रों को भी
दरवाजे से ही टरकाओ।

मेरे पढ़ने के कमरे का
तुम करतीं ठीक प्रबन्ध नहीं।
यह झगड़ा मुझे पसन्द नहीं!

जी, मेरी दाढ़ी बढ़ी हुई है,
बढ़ने दो तुम काम करो।
जी, फटा कोट ? फट जाने दो,
जाकर के तुम आराम करो।
टूटे जूते ? सिल जाएंगे, श्रीमती,
आप चिन्ता न करें।
मैले कपड़े ? धुल जाएंगे,
किस्सा भी आप तमाम करें।

मैं नहीं टहलने रात रहे
इतनी जल्दी जा सकता हूं।
बस, माफ करो अब च्यवनप्राश
मैं और नहीं खा सकता हूं।
दिन में कब अवसर मिलता है
जी, मुझे रात में पढ़ने दो।
तुम भी सोओ, जल्दी उठना,
मत व्यर्थ बात को बढ़ने दो।

हैं-हैं ! ठहरो, क्या करती हो,
करना चिराग़ को मन्द नहीं।
यह झगड़ा मुझे पसन्द नहीं!

"शीला के घर पैकिट भेजा ?"
जी, कल ज़रूर भिजवाऊंगा।
"इयरिंग के दाम पूछ आए ?"
जी, कल ज़रूर पुछवाऊंगा।

"चाचाजी को चिट्ठी लिख दी?"
जी, लिख छोड़ी, कल डालूंगा।
मैके से चली पार्सल को भी
कल ज़रूर मंगवालूंगा।

"क्या दरज़ी अभी नहीं आया ?"
मैं कल उसको बुलवाऊंगा।
चप्पल के भी दो-चार सैट
कल दिखलाने को लाऊंगा।

क्या धोबी ? वह भी भाग गया !
यह अभी सभी होने को था,
अच्छा बाबा, पीछा छोड़ो,
कल उसे खोजने जाऊंगा।

मैं सब कुछ करूं, मगर फिर भी
तुम बन्द करोगी द्वन्द्व नहीं।
यह झगड़ा मुझे पसन्द नहीं !

१४

तुलसी, मेरा उपकार करो !

(अगस्त, १९४३)

कविवर तुलसी,
बस, एक बार की डाट
काम कर गई तुम्हारे जीवन में।
तुम निकले घर से राम-नाम की
रट लेकर अपने मन में।
लिख दिये सैकड़ों ही पन्ने,
छप जाते, प्रेस अगर होते,
'रायल्टी' से ही ऐश किया
करते बैठे बूढ़ेपन में।

हे कवि-कुल-गुरु, पथ-निर्देशक,
मैं घड़ी-घड़ी, प्रतिपल, प्रतिक्षण
चलकर तेरे ही चरणों पर
यह बाजी हारा जाता हूं।
मैं रोज़-रोज़ अपनी 'उन'से
रह-रह दुत्कारा जाता हूं।
मैं जितना ही ग़म खाता हूं,
उतना फटकारा जाता हूं।

मैं रोज़ रात को तय करता—
कल सुबह छोड़ दूंगा यह घर।

इस समय न मिल सकते तांगे,
इस समय न मिल सकता नौकर।
धोबी से कपड़े कब आए?
कब तार दिया है मित्रों पर!
गाड़ी का टाइम ज्ञात नहीं
यह मुश्किल है सबसे ऊपर।

सुनती हो, कल मैं जाऊंगा,
जिस तरह गये थे कभी बुद्ध।
मैं वापस कभी न आऊंगा
लिनलिथगो-सा असहाय क्रुद्ध।
ऐ गोपा, सोती रहो, आज
यह नया तथागत जाएगा।
आंखें खोलो, दर्शन करलो,
फिर पंछी हाथ न आएगा।

तुम जो आज़ादी चाह रहीं
मैं कभी नहीं सह सकता हूं।
मैं तो इस घर में अब केवल
वेवल बनकर रह सकता हूं।
"अच्छा वेवल, अब देर हुई,
सोओ, पड़ौस जग जाएगा।
कल 'लेट' अगर आफिस पहुंचे
तो बुद्ध शुद्ध होजाएगा।

वह और दूसरे होते हैं,
जिनके कि बात लग जाती है।

करने वालों में कहने की
शेखी कम देखी जाती है।"

× × ×

तुलसी, मेरा उपकार करो,
इस घर से अब उद्धार करो।
मेरे इस दुर्बल मानस को
हरि भजने पर लाचार करो !

१५

जन्माष्टमी के दिन !

(अगस्त, १९४३)

प्यारे मुन्नू, अपनी मा से
कहना—बाबूजी आए हैं ।
कुछ उनके होश उड़े-से हैं,
कुछ लगते वे घबराए हैं !
कुछ उनका दिल बैठा जाता,
कुछ उनको चक्कर आते हैं,
कुछ देख रहे वे इधर-उधर
ओठों पर जीभ फिराते हैं !

तुम चलो, बुलाया है जल्दी,
तबियत उनकी घबराती है

वे कहते हैं कुछ बात, मगर
मुंह-की-मुंह में रह जाती है।
प्यारे भय्या, सब ऐसे ही
जाकर के हाल सुना देना।
तुम समझदार के लड़के हो
मन से भी चार बना देना।

"बस, बहुत हुआ, सुन लिया सभी
मुझको बहकाने जाते हो!
कुछ आगे - पीछे का न होश,
बच्चे को झूंठ सिखाते हो!
मैं कहती हूं तुम एक रोज़ भी
भूख नहीं सह सकते हो?
इस झूंठ बोलने की आदत से
बाज़ नहीं रह सकते हो?
सब धर्म घोलकर पी डाला,
सब कर्म गृहस्थों के छोड़े।
इस घर के पथ में रोज़-रोज़
क्यों आप बिछाते हैं रोड़े?"

क्या कहतीं—मैं कि विधर्मी हूं?
देखो सम्हालकर बात करो!
बच्चे को झूंठ सिखाता हूं,
यह कहकर मत उत्पात करो।
मैं सनातनी हूं, रोज़ नहाता,
घिसकर तिलक लगाता हूं।

वेदों की करता बात और
गीता के अर्थ बताता हूं ।

तुम सुनना मेरा आज 'लेक्चर'
लालाजी के मन्दिर में,
मैं कृष्णचन्द्र के जीवन को
क्या खोल-खोल समझाता हूं !
मैं सत्य - अहिंसा का पालक
बच्चों को झूठ सिखाऊंगा !
तुम भी कैसी बातें करतीं,
मैं तुमको ही बहकाऊंगा !

पर मैं क्या करूं, बात यह है
तबियत मेरी घबराती है !
यह पाक - पंजीरी की खुशबू
आंतों में कुलल मचाती है !
यह धर्म-कर्म और नियम-व्यवस्था
सभी पेट की ख़ातिर हैं ।
यह ही खाली रह गया
कहो, संसार कहां फिर स्थिर है ?

फिर आज दिवस है आनँद का
मैं मन को क्लेश नहीं दूंगा ।
कुछ थोड़ा-सा ही ले आओ
मैं और विशेष नहीं लूंगा ।
यह उनका ही है जन्म-दिवस
जो खाते और मचलते थे ।

गोरस की चाट पड़ी ऐसी
चोरी के लिए निकलते थे।

भगवान कृष्ण व्रत नहीं चाहते
दावे से कह सकता हूं।
फिर उनकी मर्ज़ी के खिलाफ़
भूखा कैसा रह सकता हूं ?

१६

ले नाच जम्हूरे ······ !

(सितम्बर, १९४३)

तू दिल्ली में बस जा, बस जा,
सरकार यहां पर बसती है।
हर चीज़ यहां पर सस्ती है,
ये दिल वालों की बस्ती है।
चांदनी चौक, बारहखम्बा,
बिरला-मन्दिर के आस-पास,
तू रोज़ घूमने जाया कर
तबियत भी यहां बहलती है।
जो रोज़ घूमने जाएगा,
तो नई रोशनी पाएगा
दो-चार दिनों के चक्कर में
कविता लिखना आजाएगा।
क्या, मिलते नहीं मकान?
अरे, लेकर मकान क्या करना है!
तू दिन में धन्धा देख, रात
गुरुद्वारे में सोजा एकदम!
ले नाच जम्हूरे छम-छम-छम!

छम-छम-छम-छम!

१७

कहना–सुनना बेकार गया !

(सितम्बर, १९४३)

मैं कितनी बार कह चुका हूं—
जब कोई पास में बैठा हो,
तो अपनी बानर-सेना को
अपने वश में कर लिया करो।
खाना न सही, शर्बत न सही,
दो-चार बार के कहने पर,
मैं नहीं मांगता पान, अरे,
पानी तो भिजवा दिया करो !

पर मलिन वेश, क्रोधित स्वर में,
तुम बड़-बड़ करतीं-सी अक्सर,
मेरे कमरे के आस-पास
आकर लहराया करती हो।
फिर आंख बचाकर, आंखों मे
मुझको धमकाया करती हो।
किस तरह लोग उठकर जाएं।
तुम यही मनाया करती हो।

इन छोटी-छोटी बातों को
समझाया बारम्बार गया !
कहना-सुनना बेकार गया !

घर से बाहर जाना हो तो
रह-रह कर ठाठ बदलती हो !
तुम अब भी अपने को आखिर
शोड़षी मानकर चलती हो ?
हमको इसमें एतराज़ नहीं,
माना अब भी तुम सुन्दर हो ।
जग चाहे जो कुछ कहे
मगर मुझको तुम सबसे ऊपर हो!

पर बाहर जाते समय सिर्फ़
क्यों रूप निखारा जाता है ?
साड़ी-जम्पर का मेल तभी
क्यों सिर्फ विचारा जाता है ?
(अरे) हम भी सौन्दर्य-पारखी हैं,
टुक ध्यान इधर भी दिया करो !
कुछ और नहीं तो ठीक तरह
पल्ला सिर पर ले लिया करो !

खुद तुमको तो इन बातों का
बाकी रह नहीं विचार गया !
कहना-सुनना बेकार गया !

अपनी शादी को हुए, कम नहीं
बारह वर्ष व्यतीत हुए ।

मैं तबसे, सिर्फ़ तुम्हारा हूं,
विश्वास बात का किया करो।
कुछ इधर-उधर की बातों पर
जो अक्सर झूठी होती हैं,
दुश्मन जिनको फैलाते हैं,
मत ध्यान ज़रा भी दिया करो।

मैं पत्नीव्रत का पालक हूं,
मैं गीता का अभ्यासी हूं,
मैं स्वस्थ चित्त का व्यक्ति, मुझे
साधारण कर मत लिया करो।
मैं सिर्फ़ तुम्हारे, शेष जगत के
नारि-वर्ग को क्या जानूं ?
बस, मुझको साधू समझ, सदा
अपने गुस्से को पिया करो।

पर तुम तो गलत समझती हो,
समझा-समझाकर हार गया !
कहना-सुनना बेकार गया !

१८

मुझे ज़ुकाम हुआ है !

(अक्तूबर, १९४३)

संगिनि, मुझे ज़ुकाम हुआ है !

कहता था कि रायता मुझको
रुचता नहीं, ठंड करता है,
पर, तुम मानी नहीं, दही में
पानी घोल पिला ही डाला;

अब लो, यह छी ! आं ··· छीं, आं ··· छीं
सब कुछ हाय हराम हुआ है !
संगिनि, मुझे ज़ुकाम हुआ है !

सर में मेरे धम-धम, बम के
गोले मानो बरस रहे हैं !
हाथ - पैर में हड़कन
मानो टैंक कुदकते हैं नस-नस पर;

आज नाक में ब्रिटिश फ़ौज का
सचमुच सदर मुकाम हुआ है !
संगिनि, मुझे ज़ुकाम हुआ है !

नाक का मतलब तोप, तोप का
मतलब छींकें गरज रही हैं,
छींक का मतलब नहीं, नहीं का
मतलब युद्ध चलेगा लम्बा;

अरे, चाशनी शीघ्र बनादो
अभी नहीं आराम हुआ है !
संगिनि, मुझे जुकाम हुआ है !

१९
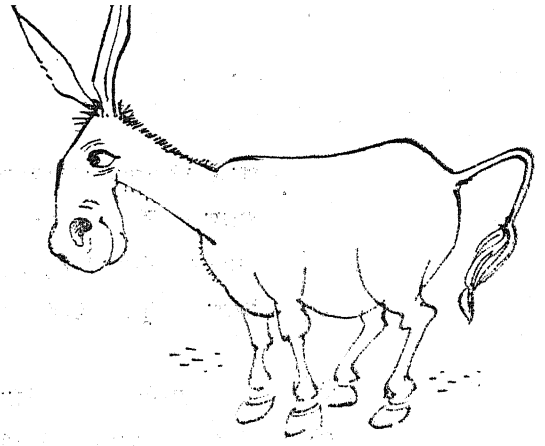
सुकुमार गधे !

(अक्तूबर, १९४३)

मेरे प्यारे, सुकुमार गधे !

जग पड़ा दुपहरी में सुनकर
मैं तेरी मधुर पुकार गधे !
मेरे प्यारे सुकुमार गधे !

तन-मन गूंजा, गूंजा मकान,
कमरे की गूंजी दीवारें,
लो ताम्र-लहरियां उठीं मेज
पर रखे चाय के प्याले में !
कितनी मीठी, कितनी मादक,
स्वर, ताल, तान पर सधी हुई,
आती है ध्वनि, जब गाते हो,
मुख ऊंचा कर, आहें भर कर,
तो हिल जाते छायावादी
कवि की वीणा के तार, गधे !

मेरे प्यारे

तुम अपने रूप शील, गुण से
अनजान बने रहते हो क्यों ?
हे लात फैंकने में सकुशल !
पगहा-बंधन सहते हो क्यों ?

ए साधु, स्वयं को पहचानो,
युग जाग गया, तुम भी जागो।
मन की कायरता को त्यागो,
रे, जागो, रे, जागो, जागो !

इस भारत के धोबी-कुम्हार
भी शासक पूंजीवादी हैं।
तुम क्रांति करो, लादी पटको,
बर्तन फोड़ो, घर से भागो !
हे प्रगतिशील युग के प्राणी,
तुम रचो नया संसार, गधे !

मेरे प्यारे...

२०

आया ताज़ा अखबार प्रिये !

(नवम्बर, १९४३)

आया ताज़ा अखबार प्रिये !
लो पढ़ो, हरेक मोर्चे पर अब जीत रही सरकार, प्रिये !

हर रोज़ हमारे वायुयान
टन-के-टन बम बरसाते हैं।
हर रोज़ हज़ारों ही दुश्मन
मारे या पकड़े जाते हैं।
हर रोज़ युद्ध के बाद, विश्व
की ठीक व्यवस्था क्या होगी,
सुलझाने को ये प्रश्न
नये प्रस्ताव सामने आते हैं।

अब सोच-समझकर 'मित्र लोग'
आगे को कदम बढ़ाते हैं ।
अब सोच-समझकर के ही सब
वक्तव्य प्रेस में जाते हैं ।
कुछ सोच-समझकर के ही तो
मिस्टर चर्चिल अब बार-बार,

बस, बात-बात में अमरीका
जाने का कष्ट उठाते हैं !

तुम भी तो कुछ सोचो-समझो,
जब सोच रहा संसार प्रिये !
आया ताज़ा अखबार, प्रिये !

"ये झोला लो, जाओ बज़ार
सब्ज़ी ताज़ी लेते आना।
आलू छै आने सेर, कहीं
ज़्यादा पैसे मत दे आना।
मैं अभी बताए देती हूं
नौ बजे, कहीं फिर देर न हो,
तुम इधर-उधर की बातों में
बैठे न कहीं पर रह जाना।"

ए, शाक बना लेना पीछे,
अखबार पढ़ो पहले रानी !
लो देखो, मरने वाली है
हिटलर-मुसोलिनी की नानी !
अब बरमा छिननें वाला है
यह सोच-सोचकर के ही बस,
तोजो के दिल में धड़कन है,
आंखों में भर आता पानी !

मैं कहता हूं इस ब्रिटिश-शक्ति
का किसने पाया पार प्रिये !
आया ताजा अखबार, प्रिये !

"अखबार तुम्हारे झूंठे हैं,
तुम झूंठों के सरताज खरे।
कल ही तो सब चिल्लाते थे—
हम हाय मरे, हम हाय घिरे!
जो वापस कदम हटाने को भी
विजय बताते आये हैं,
ऐसे लोगों की बातों का
विश्वास बताओ कौन करे?"

ओ, भागवान्! ला झोला दे,
चुप रह जो कोई सुन लेगा।
तेरा तो क्या होना-जाना,
मुझको 'डिफेन्स' में ले लेगा।
तू युद्ध-नीति को क्या जाने,
कैसी से हाय पड़ा पाला!
ला, छै आने के सेर मुझे
आलू वह कुंजड़ा क्या देगा!

तुझसे तो इन सब बातों का
कहना-सुनना बेकार, प्रिये!
आया ताज़ा अखबार, प्रिये!

२१

दिल्ली का तोहफ़ा

(दिसम्बर, १९४३)

चार चीज़स्त तुहफ़ये दिल्ली—
खांसी, ज़ुकाम, बुखार, ताप-तिल्ली।

इन चारों को, हम दोनों ने
आधा मिल-मिलकर बांट लिया।
खांसी-ज़ुकाम खुद लेकर के
तिल्ली-बुखार दे 'उन्हें' दिया।

मैं टीं-टीं करता रहता हूं,
वे हाय-हूय चिल्लाती हैं!
मैं अपना गला खखार रहा,
वे अपना पेट दबाती हैं!

मैं कहता हूं—दिल्ली छोड़ो,
वे कहती हैं—"ये ठीक नहीं।
दिल्ली में धन्धा अच्छा है,
कुछ रोज़ बसो तुम अभी यहीं।"

मैं समझाता उनको—रानी,
तन्दुरुस्ती बड़ी नियामत है।
वे झल्लातीं—"आरही अभी
ऐसी क्या बड़ी क़यामत है?"

मैं कहता हूं—मुझ पर न सही,
तुम पर तो आफत भारी है।
वे कहती हैं—"चाटो न मग़ज़,
मुझको चढ़ रही तिजारी है।"

लो चढ़ी तिजारी—"हैं-हैं-हूं-हूं!
ठंड लगी बिस्तर लाओ!
दो डाल रजाई ऊपर से
मोटा-सा कम्बल ले आओ।

ये खिड़की करदो बन्द,
हवा इसमें से ठंडी आती है!
सर में होता है दर्द और
तबियत बेहद घबराती है!"

मैं कहता था खाओ कुनैन,
पर तुम मेरी कब सुनती हो?
उलटी-ही-उलटी चलती हो,
अपनी-ही-अपनी धुनती हो।

मैं कहता था—निरहार रहो,
तुम आंख बचाकर खाती थीं।
मैं कहता था—मच्छर मारो,
तुम हिंसा-हिंसा गाती थीं।

अब उछल-उछलकर खटिया में
तुम शय्या-नृत्य करो रानी!
मैं नहीं पास में बैठूंगा,
मैं नहीं पिलाऊंगा पानी।

"कड़वी कुनैन थू-थू-थू-थू !
मैं कभी नहीं खा सकती हूं !
प्यारी दिल्ली को छोड़ नहीं
हरगिज़ बाहर जा सकती हूं।

तुम नहीं पास में बैठोगे ?
तुम नहीं पिलाओगे पानी ?
अच्छा, तो देखी जाएगी,
ऐसी भी क्या है हैरानी !

अब मैं देखूंगी कौन सुबह का
खाना जल्द बनाएगा ?
अब मैं देखूंगी कौन तुम्हें
धो-धो कपड़े पहनाएगा ?

अब मैं देखूंगी कौन तुम्हारे
बच्चों को समझाएगा ?
अब मैं देखूंगी कौन तुम्हारे
घर का खर्च चलाएगा ?

जाओ, तुमको होरही देर
मैं भी यह ठीक मानती हूं।
तुम जो कुछ करने जाते हो
मैं अच्छी तरह जानती हूं !

कल शकुन्तला की बड़ी बहन
मुझको बतलाने आई थी।
तुम उधर झांकते आते हो,
वह कड़ी शिकायत लाई थी।

जब घर-पड़ौस की यह हालत,
तो बाहर क्या करते होगे ?
मैं जान गई हूं तुम आगे
तकलीफ मुझे भारी दोगे।"

रे दिल, अब तो खाँसो-खाँसो,
खाँसी में छुपी भलाई है।
ए पैर, चलो लपको बाहर
जूड़ी उनको चढ़ आई है !

२२

मेरे साजन !

(जनवरी, १९४४)

मेरे साजन, मेरे साजन !

(विलायती)

वे आठ बजे पर उठते हैं,
उठते ही चाय मंगाते हैं।
फिर लेकर के अखबार—
'लैट्रिन' में सीधे घुस जाते हैं।

वापस घंटे में आते हैं,
आते ही 'शेव' बनाते हैं।
फिर लिये तौलिया कन्धे पर
हर रोज़ गुसल को जाते हैं।

होगया गुसल का द्वार बन्द,
मैं सुनती हूं कुछ मन्द-मन्द,
वे नये सिनेमा के गीतों को
लहज़े से दुहराते हैं।

आते ताज़ा-ताज़ा होकर
फिर सर में कंघा देते हैं।

शीशे में देख हंसा करते,
ओठों में मुस्का लेते हैं

वे पैण्ट पहनकर खड़े हुए,
मैं उनको कोट पिन्हाती हूं।
मोज़े - जूते पहनाकर मैं
फीतों में गांठ लगाती हूं ।

वे टाई अपनी बांध रहे,
मैं 'नाट'–गांठ सुलझाती हूं।
वे मुंह पर हाथ मसलते हैं,
मैं शीशा उन्हें दिखाती हूं।

मैं आगे - पीछे दौड़ - दौड़
कपड़ों की 'क्रीज़' सम्हाल रही।
टेबुल पर 'ब्रेकफास्ट' रखती,
कुर्सी पर उन्हें बिठाल रही ।

वे ना – ना करते जाते हैं,
मैं ज़बरन उन्हें खिलाती हूं।
वे जब – जब मुझे देखते हैं,
मैं तब – तब ही मुस्काती हूं।
मेरे साजन, मेरे साजन !

× × ×

(देसी)

सोने का उनका समय नहीं,
उठने का उनका पता नहीं।

पैं उन्हें जगाकर, गाली
खाने की करती हूं ख़ता नहीं।

वे असमय - कुसमय उठते हैं,
उठते ही कलम उठाते हैं।
मैं कहती हूं—'बिस्तर छोड़ो',
वे 'ज़रा रुको' फरमाते हैं।

जब घड़ी बजाती साढ़े नौ
तब कहीं पखाने जाते हैं।
वापस मिनटों में आते हैं।
न्हाते हैं, कभी न न्हाते हैं।

जैसे ही वे वापस आये
मैं भोजन उन्हें परोस रही।
वे जल्दी - जल्दी खा चलते,
मैं अपना हृदय मसोस रही।

वे कोट पहनते जाते हैं
मैं उनकी छड़ी टटोल रही।
उनका रूमाल खोगया कहीं,
मैं गठरी- पुठरी खोल रही।

वे दफ़्तर जाने को होते
मैं अपना सबक सुनाती हूं
यह नहीं, वह नहीं, यह लाना,
वह लाना, याद दिलाती हूं।

व कोट छुड़ाकर भाग चले,
म पीछे-पीछे जाती हूं।
दरवाज़े तक आये न हाथ
तो तेज़ी से चिल्लाती हूं—

"मंगल है आज शीघ्र आना
मैं महावीरजी जाऊंगी।
मुन्ना को आया था बुखार
उसका परसाद चढ़ाऊंगी।"

मेरे साजन, मेरे साजन !

२३

कुछ नहीं समझ में आता है !

(फरवरी, १९४४)

कुछ नहीं समझ में आता है।
जी, उनको क्या है मर्ज़, नहीं कोई भी ठीक बताता है।

कुछ नहीं··

मैं वैद्य-डाक्टरों को लाया,
कहते हैं—कोई इलाज नहीं।
हंसते हैं, मुझे बनाते हैं,
आती है उनको लाज नहीं।
अम्मा से कहता, कहती हैं—
"ऐसा तो हो ही जाता है।"
भाभी को देखो, मुझे छेड़ने
से आती हैं बाज़ नहीं।

मैं जहां कहीं भी जाता हूं
वह दिखलाता लाचारी है।
हो जिसका नहीं इलाज, अजी,
ऐसी यह क्या बीमारी है ?
मैं उनसे कहता हूं—"कट्टो,
जर्मन क्यों पानी मांग गया ?"

तो ऐसे मुझे घूरती हैं,
गोया मेरी मक्कारी है !

पर मुझको तो अपना कसूर
कोसों तक नहीं दिखाता है !
कुछ नहीं…

लो, तुम भी सुनो हाल यह है
वह पीली पड़ती जाती हैं ।
हर वक्त जम्हाई लेती हैं,
अलसाई - सी दिखलाती हैं ।
वे ऐसी लगती हैं मानो—
दर्पण पर धूल छागई हो,
वे अनखाई - सी रहती हैं,
अनखाई ही रह जाती हैं !

कुछ चक्कर-से आते उनको
मैं सर सहलाया करता हूं ।
वे उड़ी - उड़ी - सी रहती हैं,
तबियत बहलाया करता हूं ।
कुछ उनमें भगती-भाव आजकल
अनदेखा बढ़ आया है,
मैं तुलसी-कृत रामायण का
बस, पाठ सुनाया करता हूं !

मुझसे तो असमय में उनका
वैराग्य न देखा जाता है !
कुछ नहीं…

वे ऐसी नाज़ुक हुईं, न
नीचे-ऊंचे ज़्यादा जा सकतीं।
फिर यह कब मुमकिन है कि
बोझ की चीज़ें अधिक उठा सकतीं ?
यों मन उनका चलता रहता है
तरह - तरह की चीज़ों पर
लेकिन कुछ ऐसा हुआ—
सुबह का खाना ठीक न खा सकतीं !

कुछ ऐसा उनको हुआ कि
खट्टी चीज़ें अक्सर भाती हैं।
नौकर को चुपके भेज, चटपटी
चाटें अधिक मंगाती हैं।
पर, इतना तो है ठीक, मगर
हैरत में हूं यह देख - देख—
कोरे मिट्टी के बर्तन को
क्यों फोड़-फोड़कर खाती हैं ?

शायद इस कारण ही उन पर
पीलापन चढ़ता जाता है।
कुछ नहीं···

मित्रो, कुछ मुझे बताओ तो—
क्यों तेज नहीं चल पाती हैं ?
क्यों जल्द पसीना आता है,
ओठों पर जीभ फिराती हैं !
क्या हुआ कि साड़ी भी जैसे
बांधना अचानक भूल गईं,

कुछ तुन्दिल-तुन्दिल नरम-गरम
खरबूजे - सी दिखलाती हैं ।

मैं छै महीने से परेशान
आराम नहीं मिल पाता है।
उनकी इस 'हौं-हौं-हौं-हौं' से
दिल मेरा बैठा जाता है !
होगई जवानी व्यर्थ, हाय,
श्रृंगार नहीं, रोमांस नहीं,

अब "माया" के बदले घर में
"बालक" मंगवाया जाता है ।
कुछ नहीं···

२४

नया रोज़गार !

(जून, १९४४)

अब से पहले सम्पादक था
एक नये, सुन्दर मासिक का।
हिन्दी के बाज़ार - भाव पर
जिसका जमा हुआ था सिक्का।

बड़े ठाठ थे, बड़े रौब थे,
नाम-गाम ऊंचे थे भाई !
मगर व्यर्थ होगए, जब कि
संचालकजी से हुई लड़ाई।

हमने कहा कि संचालकजी,
लेलें अपनी लाल पैंसिल,

लेलें अपनी छोटी कैंची,
लेलें सम्पादक की डिगरी,

अपने पहले भूत लगाने से ही
काम निकल जाएगा।
है कुछ दिन की बात, दूसरा
काम शीघ्र ही मिल जाएगा।

लेखक हूं मैं लिख-लिखकर ही
अपना काम चला सकता हूं।
खुद अपने को छोड़ और
दो को भी बैठ खिला सकता हूं।

लिक्खूंगा मैं लेख फड़कते
सैक्स-तत्त्व, सौंदर्य - शास्त्र पर,
नारि-वर्ग की आज़ादी पर,
उनके शिक्षा - संस्कार पर।

राजनीति के हर पहलू पर
अपना बल दिखलादूंगा मैं।
हिन्दी भाषा, सम्मेलन म
नई रोशनी लादूंगा मैं।

कैसे होता है प्रचार
अखबारों के हल्ले की हरकत,
क्या रंग लाती है चौबेजी
को भी सबक सिखा दूंगा मैं !

हर महीने मैं लिखा करूंगा
एक नई पुस्तक अलबेली।
विषय चटपटा, गैटअप सुन्दर,
अपने ढंग की एक अकेली।

मित्र लिखेंगे समालोचना,
ठेलों में वह बिका करेगी।
मेलों में विज्ञापन होगा,
खूब खपेगी, खूब छपेगी।

× × ×

हाय, लड़ाई! स्वप्न भंग होगया,
नहीं काग़ज़ मिल पाता।
लिखी पुस्तकें रखीं, इन्हें
रद्दी के भाव न पूछा जाता।

अखबारों से लौट-लौट कर
लेख-कहानी वापस आते।
बड़ी शिष्टता और सभ्यता से
यूं सम्पादक फरमाते—

"प्रियवर, काग़ज़ की तेज़ी में
पुरस्कार होगया असम्भव।
आगे और न कष्ट करें,
हम स्वयं मंगा लेंगे, होगा जब।"

हमने कहा कि सम्पादकजी,
चाटें अखबारों के पन्ने।

ले लें पुरस्कार खुद ही सब
ऊंची कुर्सी पर डटकर के ।

कवि हूं, कविता पढ़-पढ़कर ही
अपना रंग जमा सकता हूं ।
कालिज के लड़की-लड़कों को
चुटकी में बहका सकता हूं ।

आख़िर गला सुरीला मेरा
और काम आएगा किस दिन ?
लम्बे बाल, लचकती काया का
क्या और बनेगा भगवन् !

हूं यथार्थ में छायावादी,
लिखता हूं 'रोमान्स' गीत मैं ।
प्रेम, तत्व है नारि पहेली,
श्रद्धा रखता अतीत में ।

पर, मैं युग के साथ चलूंगा
इन्क़लाब का हाथ पकड़कर ।
'प्रगतिशील पथिकों' की टोली में
आऊंगा आगे बढ़कर ।

'रूस जयी हो'—कम्यूनिस्ट हूं,
चीन-मित्र—फासिस्ट विरोधी ।
मज़दूरों का नेता हूं मैं,
विप्लववादी कवि हूं क्रोधी !

उधर रईसों की महफ़िल में
अचकन सजकर जाऊंगा मैं।
सानुप्रास मधुर वाणी में
झुक आदाब बजाऊंगा मैं।

बाबूजी का ब्याह, या कि
लालाजी के लड़के का मुण्डन,
जहां कहीं कवि-सम्मेलन हो,
सुनकर दौड़ा जाऊंगा मैं।

भारतवर्ष बहुत विस्तृत है,
मैं अपने ढंग का पहला कवि,
थोड़े दिन के भीतर ही बस,
ख़ूब नाम पाजाऊंगा मैं।

आएंगे फिर मुझे निमंत्रण,
दूर - दूर कवि - सम्मेलन से,
ले 'सैकिन' का खर्च, 'थर्ड' से
ही बस टिकट कटाऊंगा मैं!

× × ×

हाय लड़ाई! रेल बन्द होगईं,
टिकट कब मिल पाती हैं?
हुए निमन्त्रण व्यर्थ कि कविता
लिखी-लिखी ही रह जाती हैं।

मैं निराश होगया, किन्तु
फौरन ही सूझ उठी अन्तर से।

नया रोजगार

बांध बिस्तरा बिना कहे ही
निकल पड़ा मैं अपने घर से।

मेरे घर पर मत कह देना,
मैं दिल्ली से बोल रहा हूं।
पढ़ना - लिखना छोड़, हजामत
की दुकान मैं खोल रहा हूं।

कवि, लेखक और पत्रकार
इन तीनों को ही नमस्कार कर,
सिल्ली पर मैं रगड़ उस्तरा
उसकी धार टटोल रहा हूं।

दो आने दाढ़ी के लेकर
छै आने में बाल छाँटता।
बड़े - बड़े अफलातूनों की
मूछों के मैं बाल काटता !

मैं स्वतन्त्र हूं, संचालक की
धमकी मुझको नहीं डराती।
मैं प्रसन्न हूं, लेख लौटने की
अब नहीं मुसीबत आती।

मेरे ग्राहक सुनते हैं मेरी
कविता को बड़े चाव से।
'कला कला के लिए' छन्द
लिखता हूं मैं स्वच्छन्द भाव से !
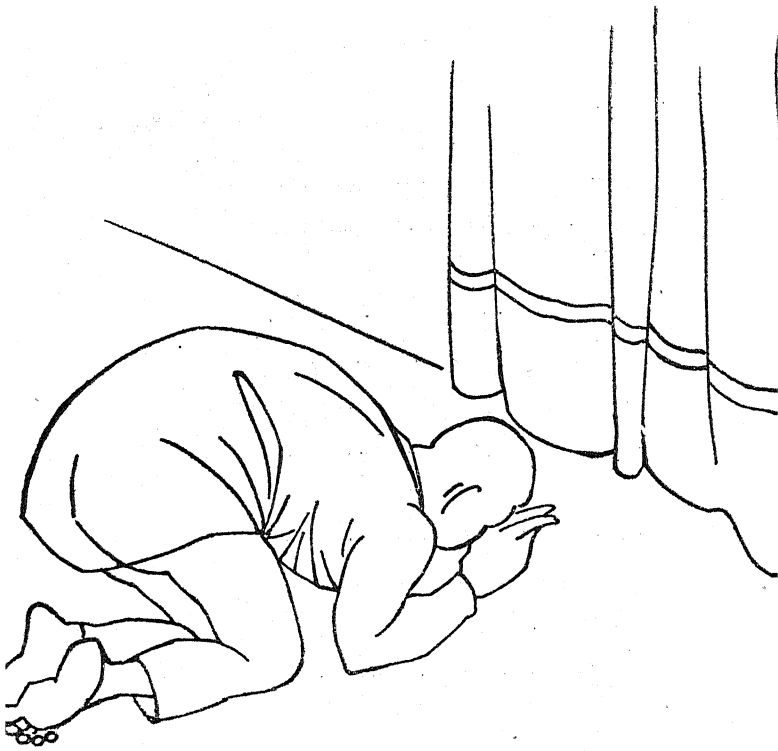
२५

पत्नी को परमेश्वर मानो !

(जून, १९४४)

पत्नी को परमेश्वर मानो !

यदि ईश्वर में विश्वास न हो,
उससे कुछ फल की आस न हो,
तो अरे, नास्तिको, घर बैठे,
साकार ब्रह्म को पहचानो !

पत्नी को परमेश्वर मानो !

वे अन्नपूर्णा, जग-जननी,
माया हैं—उनको अपनाओ।

वे शिवा, भवानी, चण्डी हैं,
कुछ भक्ति करो, कुछ भय खाओ।
सीखो पत्नी-पूजन-पद्धति,
पत्नी-अर्चन, पत्नी-चर्या,
पत्नी-व्रत पालन करो और
पत्नीवत्-शास्त्र पढ़े जाओ।

अब कृष्णचन्द्र के दिन बीते,
राधा के दिन बढ़ती के हैं।
यह सदी बीसवीं है भाई,
नारी के ग्रह चढ़ती के हैं।
तुम उनका छाता, कोट, बैग
ले, पीछे-पीछे चला करो,
सन्ध्या को उनकी शय्या पर
नियमित मच्छरदानी तानो!
पत्नी को परमेश्वर मानो!

तुम उनसे पहले उठा करो,
उठते ही चाय तैयार करो।
उनके कमरे के कभी अचानक,
खोला नहीं किवाड़ करो!
उनकी पसन्द से काम करो,
उनकी रुचियों को पहचानो,
तुम उनके प्यारे कुत्ते को,
बस, चूमो-चाटो प्यार करो!

तुम उनको 'नाविल' पढ़ने दो,
आओ कुछ घर का काम करो।

वे अगर इधर आजायँ कहीं,
तो कहो—प्रिये, आराम करो।
उनकी भौहें 'सिगनल' समझो,
वे चढ़ीं कहीं तो ख़ैर नहीं,
तुम उन्हें नहीं 'डिस्टर्ब' करो,
ए हटो, बजाने दो प्यानो!

पत्नी को परमेश्वर मानो!

तुम दफ्तर से आगए, बैठिए,
उनको क्लब में जाने दो।
वे अगर देर से आती हैं,
तो मत शंका को आने दो।
तुम समझो वह हैं फूल,
कहीं मुरझा न जायँ घर में रहकर!
तुम उन्हें हवा खा आने दो,
तुम उन्हें रोशनी पाने दो!

तुम समझो 'एटीकेट' सदा
धीरे से उनसे बात करो।
उनके आगे ही नहीं,
कभी पीछे भी मत उत्पात करो।
यदि जग में सुख से जीना है,
कुछ रस की बूंदें पीना है,
तो ए विवाहितो, आँख मूंद,
मेरे कहने को सच जानो!

पत्नी को परमेश्वर मानो!

मित्रों से जब वह बात करें
बेहतर है तब मत सुना करो !
तुम दूर अकेले खड़े-खड़े
बिजली के खम्बे गिना करो !
तुम उनकी किसी सहेली को
मत देखो, कभी न बात करो।
उनके पीछे उनके दराज़ से
कभी नहीं उत्पात करो।

तुम समझ उन्हें स्टीम-गैस,
अपने डिब्बे को जोड़ चलो।
जो छोटे स्टेशन आएं, उन
सबको पीछे छोड़ चलो !
जो सँभल कदम तुम चले-चले
तो हिन्दू सद्गति पाओगे,
मरते ही हूरें घेरेंगी, तुम
चूको नहीं मुसलमानो !
पत्नी को परमेश्वर मानो !

तुम उनके फौजी शासन में
चुपके राशन ले लिया करो।
उनके चैकों पर सही-सही
अपने 'दसखत' कर दिया करो।
तुम समझो उन्हें 'डिफैंस एक्ट'
कब पता नहीं क्या कर बैठें ?
वे भारत की सरकार, नहीं
उनसे सत्याग्रह किया करो !

छ बजने के पहले से ही
उनका 'करफ्यू' लग जाता है!
बस हुई ज़रा-सी चूक कि झट
ही 'आर्डिनैंस' बन जाता है।
वे 'अल्टीमेटम' दिये बिना ही
युद्ध शुरू कर देती हैं,
उनको अपनी हिटलर समझो,
चर्चिल-सा डिक्टेटर जानो!

पत्नी को परमेश्वर मानो!

२६

सब गांधीजी की माया है !

(जुलाई, १९४४)

यदि जीहुजूर के कमरे में
कुत्ता भी आकर छींक जाय,
तो मैं तो यही सुझाऊंगा—
यह कांग्रेस की छाया है !

सब गांधीजी की माया है !

यदि पढ़े-लिखे दो-चार व्यक्ति
बातें करते दिखलाई दें।
कुछ उनके देसी कपड़े हों,
देसी-से शब्द सुनाई दें।

फिर उनकी शकलें कैसी हों,
बातें भी चाहे जैसी हों,
पर मैं तो पकड़ बताऊंगा——
इनमें षड़यन्त्र समाया है !

सब गांधीजी की माया है !

कालिज में जितने भी लड़के
धोती-कुरते में आते हैं।
या वे व्यापारी जो हिन्दी का
"हिन्दुस्तान" मंगाते हैं।
या वे जो नित्य टहलने को
जाते हैं मिलकर पाँच-सात,
मैं सच कहता हूं इन सबने
मिलकर विद्रोह उठाया है !

सब गांधीजी की माया है !

हिन्दी के रीडिंग-रूम और
देसी अखबारों के दफ़्तर।
कुछ वैद्य-डाक्टरों की दुकान,
कुछ बंगाली लोगों के घर।
यें बम बनने के अड्डे हैं,
इनमें षड़यन्त्र सुलगते हैं,
इन लोगों ने ही भारत में
कह-कह जापान बुलाया है !

सब गांधीजी की माया है !

यदि खादी के कपड़े पहने,
गांधी की टोपी दिये हुए।
दिखलाई युवक पड़े जाता,
अखबार हाथ में लिये हुए।
तो पीछे से उसको पकड़ो,
देखो, उस पर पिस्तौल न हो,
वह हिंसक है, हत्यारा है,
बागी है, भागा आया है!

सब गांधीजी की माया है!

गांधी, गांधी! यह आंधी है!
क्यों तुमने इसको छोड़ दिया?
क्यों जिन्नासाहब का हुजूर!
पंजाबी सपना तोड़ दिया?
मैं 'जीहुजूर' का सेवक हूं,
मालिक को याद दिलाता हूं,
यह 'भारत-छोड़ो' कहते हैं,
इन पर जापानी साया है!

सब गांधीजी की माया है!

२७

पत्नीव्रत !

(जुलाई, १९४४)

[गोस्वामी तुलसीदास के पतिव्रत-धर्म की पलट]

संवत दुइ हजार के माहीं।
सीला गई सुसीला पाहीं ॥
हाथ मिलाइ निकट बैठारी।
चाय-पात्र धरि दियहु अगारी ॥

टोस्ट-बटर-बिस्कुट मंगवाए।
जे नित नूतन अमल सुहाए ॥
आलू-चाप मंगाइ नवीनी।
'मिसेज श्याम' ताजा करि दीनी ॥

चुसकत चाय सुसीला बोली।
मानहुं चौंचि कोकिला खोली ॥
कहत सुसीला अति मृदुबानी।
'पत्नीव्रत' अब सुनहु सयानी ॥

नारि जाति कहँ अति सुखकारी।
पुरुष-धर्म सुन सीला प्यारी ॥
बड़े भाग्य विधि नारी देही।
अधम सो पुरुष जो सेइ न तेही ॥

धीरज, धर्म, मित्र, भर्तारी ।
आपत-काल परखिए चारी ॥
बूढ़ी, रोगिन, जड़, मतिहीना ।
अंधी, बहरी, कलह-प्रवीना ॥

ऐसिहु तियकर किय अपमाना ।
पुरुष पाव जमपुर दुख नाना ॥
एकै धर्म, एक व्रत - नेमा ।
काय-वचन-मन तिय-पद-प्रेमा ॥
जग पत्नी-व्रत चार कहाहीं ।
वेद, पुरान, सन्त अस गाहीं ॥

उत्तम, मध्यम, नीच, लघु, सकल कहहुं समझाइ ।
सुनत पुरुष सब भव तरहिं, सुन सीला चित लाइ ॥

उत्तम के अस बस मन माहीं ।
सपनेहु आनि नारि जग नाहीं ॥
मध्यम पर-तिय देखहिं कैसे ।
माता, बहिन, पुत्रि, निज जैसे ॥

धर्म-विचार समुझि कुल रहहीं ।
सो निकृष्ट पति श्रुति अस कहहीं ॥
बिनु अवसर भय ते रह जोई ।
जानहु अधम पुरुष जग सोई ॥

पत्नी संग जो पति छल करहीं ।
रौरव नरक कल्प शत परहीं ॥
क्षण सुख लागि जनम शतकोटी ।
दुख समुझै न भई मति खोटी ॥

जो पत्नीव्रत छल तजि गहहीं।
बिनु श्रम पुरुष परम गति लहहीं॥
पत्नी विमुख जनम जहँ जाई।
रँडुआ होइ पाइ तरुनाई॥

परम पावनी नारि, पति सेवहिं, सुभगति लहति।
जस गावत अखबार, अबहु 'सिम्पसन' जगत-प्रिय॥
सुमिरि तिहारो नाम, पति सब पत्नीव्रत करहिं।
तेरे सेवक स्याम, कही कथा संसार हित॥

२८

तुम मिलीं ....!

(जुलाई, १९४४)

(१)

तुम मिलीं, मुझे मालूम हुआ—
तुम तरल नदी-सी तूफ़ानी,
इठलाती-सी,
बलखाती-सी,
उस दिन देखा,
घंटेघर के चौराहे पर
तुम चाट रही थीं खड़ी-खड़ी
उस दही-बड़े के पत्ते को
थीं मिर्चें जिसमें मनमानी।

और मैं, प्रिये,
उमर का ढला,
थका,

और हारा,
तेरे रूप-भार,
यौवन को
सहने वाला,
जी आए सो करो,
नहीं कुछ कहने वाला,
मौन,
और गंभीर,
शांत,
और श्रांत;
तेरे रूप-सरोवर में
सब रोष भुलाकर,
लूट-लुटाकर,
रहता हूं उद्भ्रान्त !

(२)

तुम मिलीं, मुझे मालूम हुआ—
तुम हाय 'प्रभाकर' पास कर चुकीं,
अपने नित्य नये फैशन से
उन सबका उपहास कर चुकीं,
डाल बगल में हाथ
जो कि इण्डिया गेट की हरी घास पर
साथ किसी परदेशी को ले
मोद-विनोद किया करती हैं !

और मैं बेबस हूं असहाय,
न हिन्दी आय,
न उर्दू जाय,
कहूं अगर मुंह से ब्राह्मण,
तो बाम्मण ही कढ़ पाय !

कि मेरे लम्बे-लम्बे बाल,
कि मेरी दाढ़ी भी विकराल,
कि मेरी अजब लटपटी चाल,
मन से बड़ा महान, मगर
हूं वैसे ठन-ठन-पाल !

(३)

तुम मिलीं, मुझे मालूम हुआ—
तुम गुड़िया हो रंगीन सजी,
जी जिसे देखते जाग उठे,
बस, दूर बुढ़ापा भाग उठे,
वह लोह-भस्म की पुड़िया हो
तुम शक्ति-श्रोत हो पारा-सी,
अंगारा-सी,
हर रोग दूर करने वाली
तुम शीशी अमृतधारा-सी !

और मैं वह हूं
जिसके हाथ,
कि जिसके पांव,
पुरानी बीवी ने ही तोड़ दिए,

झकझोर दिए,
मैं व्याकुल हूं असहाय,
करूं क्या हाय !

तुम मिलीं अचानक मुझे,
देवि, मैं पूछ रहा हूं तुमसे !
मुझे विवाहोगी क्या ?
साथ लगाओगी क्या ?
मरा, जिलाओगी क्या ?

तुम अगर नहीं मानोगे तो
गंडा करवाकर लाऊंगी ।
मैं महावीरजी जाऊंगी !

धोबी को देखो—मुश्किल से
छै पैसे कपड़े लेता है !
नाई को देखो—दो आने में
'शेव' बनाकर देता है !
मोची को देखो—सुनती हूं
दस - बारह रोज़ कमाता है !
बढ़ई का और लुहारी का
रुजगार ज़ोर से चेता है !

पर, तुम हो खबर सुनाते हो
कागज़ पर भी 'कन्ट्रोल' हुआ !
अखबारी पन्ने घट निकले
सब लिखना-पढ़ना गोल हुआ !
तुम लिए 'तीस परसैंट' पेट को
एक - तिहाई कर डालो,
चांदी की चीज़ें बचीं, इन्हें
कल मैके में पहुंचाऊंगी ।
मैं महावीरजी जाऊंगी ।

है अभी लड़ाई बहुत दिनों
मेरी मानो, कुछ काम करो ।
मैं रुपए तुम्हें मंगा दूंगी
ठेकेदारी में नाम करो ।

फिर देखो, एक साल ही में
ऊंची बिल्डिंग बन जाएगी ।
तुम दफ्तर वाले लोगों से तो
पैदा दुआ–सलाम करो ।

कुछ और नहीं तो राशन के
दफ्तर में भर्ती होजाओ ।
शर्मा साहब लगवा देंगे
तुम उनको अर्जी दे आओ ।
फिर बने दरोगा फिरो,
दुकानों से भी चौथ वसूल करो
मैं चावल - शक्कर का घर में
चुपके रुजगार चलाऊंगी ।

मैं महावीरजी जाऊंगी !

यदि मैं होती जो पुरुष
पुलिस में झटपट नाम लिखा लेती ।
चौराहे पर ड्यूटी देती,
तांगों पर टैक्स लगा देती ।
फिर अगर कहीं तुम होते मेरी
घरवाली, कामिनि, सुन्दर,
तो सच मानो सोने की तगड़ी
ज़रूर ही पहना देती ।

मैं कहती हूं तुम सिविल क्लर्क
बनने में क्यों घबराते हो ?

क्यों नहीं पिच्हत्तर नकद माह में
बंधे - बंधाए लाते हो ?
मैं इन्हीं पिच्हत्तर में से तुमको
गरम सूट सिलवादूंगी,
और अपने लिए खरीद नई
साड़ी बनारसी लाऊँगी ।

मैं महावीरजी जाऊंगी !

मैं कहते - कहते हार गई—
तुम समय देखकर चला करो ।
दुनिया मरती है, मरने दो,
तुम पहले अपना भला करो ।
इस लिखने में भी बरकत है,
पर तुम उसको पहचानो तो !
लो, अपनी कलम-कटारी से
काटा जापानी गला करो ।

फिर देखो तुमको गवर्मिन्ट
पलकों पर अधर उठाती है ।
फिर देखो कम्यूनिस्ट - टोली,
छाती से तुम्हें लगाती है ।
फिर देखो सारे आलोचक भी
प्रगतिशील बतलाएंगे ।
फिर देखो मैं भी 'कामरेड' कह
तुमसे हाथ मिलाऊंगी ।

मैं महावीरजी जाऊंगी !

पर हाय! तुम्हें क्या समझाऊं,
कब समझाने में आते हो ?
मेरी सीधी - सच्ची बातों पर
उलटे गीत बनाते हो !
तो यही सही, यह भी धन्धा
अच्छा है, इतना और करो
लिख - लिखकर अपने लेख
क्यों नहीं मेरे नाम छपाते हो ?

मैं सच कहती हूं इस प्रकार
तुम अपनी वक़त बढ़ा लोगे !
मिलने वालों की नज़रों में
तुम खुद को खूब चढ़ा लोगे।
निश्चय परिचय का क्षेत्र
तुम्हारा कई गुना बढ़ जाएगा,
मैं स्वयं किसी सम्पादक से
कह करके जगह दिलाऊंगी !

मैं महावीरजी जाऊंगी !

३०

हिजड़िस्तान !

(अक्तूबर, १९४४)

अयि, वायसराय महाराज !
हमारी भी मांगें मंजूर करो।
तुम एक नज़र से ही सबको
देखा करते हो दलित-बन्धु !
अयि, अल्पसंख्यकों के त्राता !
मत हमको दिल से दूर करो।
अयि, वायसराय महाराज . . .

हम वृहन्नला के वंशज हैं,
व्यापक इतिहास हमारा है।
हमने ही पिछले 'भारत' में
वह भीष्म-पितामह मारा है !

तुम कोष-व्याकरण में खोजो
तो लिंग नपुन्सक पाओगे,
सबने हम लोगों की स्वतन्त्र
सत्ता को पृथक पुकारा है !
हम नारि-वर्ग में नहीं,
नहीं पुरुषों के दल में आ सकते।
हम हिन्दू हरगिज़ नहीं,
नहीं मुस्लिम कहलाए जा सकते।
है वर्ग हमारा अलग, जाति भी
पृथक, न भाषा मिलती है,
फिर कहो, किसलिए नहीं पृथक
हम हिजड़िस्तान बना सकते ?
तो अये-हये ! हम लोगों के
मत सपने चकनाचूर करो !

अयि, वायसराय महाराज...

है भिन्न हमारा धर्म—
न शादी करते बच्चे जनते हैं।
है भिन्न हमारा कर्म—
किसीके पति-पत्नी कब बनते हैं !
भगवान सलामत रखे
हमारे ढोलक और मँजीरों को,
हम नहीं नौकरी करते हैं,
हम नहीं किसीकी सुनते हैं ?

हम संख्या में थोड़े यद्यपि
पर व्यापक क्षेत्र हमारा है।

शादी-विवाह में बिना हमारे
होता नहीं गुज़ारा है ?
हर हिन्दुस्तानी के दिमाग पर
दिल पर, कार्य-प्रणाली पर—
बापू से पूछो, हम लोगों का
या कि प्रभाव तुम्हारा है ?
तुम इसी बात को लेकर के
वक्तव्य नया मशहूर करो !

अयि, वायसराय महाराज...

हम राजभक्त, विश्वासपात्र,
महलों में रहते आए हैं।
मुगलों के शासन में हरमों में
हमने दिवस बिताए हैं।
है कुछी दिनों की बात कि
वाजिदशाह अली के शासन में
हम मन्त्री थे, सेनानी थे,
हमने भी शस्त्र उठाए हैं !

तुम हमें इशारा कर देखो
फिर हम अपनी पर आते हैं।
जापानी हो, या जर्मन हो
हम सबको मार भगाते हैं।
बन्दूकों का क्या काम,
अजी, हम स्वयं बम्ब के गोले हैं !
तालियां हमारी तेज़ कि दुश्मन
सुनते ही भग जाते हैं !

बस, इसीलिए गांधीजी से
मिलने को मत मजबूर करो !
अयि, वायसराय महाराज···

अयि, बापू-जिन्ना सावधान !
यह सुलह नहीं होपाएगी,
जो अगर ग़लत कुछ कर बैठे
तो हिजड़ों से ठन जाएगी।
हम नहीं अहिंसा के क़ायल,
ढोलक की तोप अड़ा देंगे।
यह 'गांधीवाद' व्यर्थ होगा,
हम 'हिजड़ावाद' चला देंगे !

हम खुद ही ताली बजा-बजा,
अपना सन्देश सुनाएंगे।
हम चौराहों पर नाचेंगे,
भेड़ों की भीड़ बुलाएंगे !
ये अंग्रेजों का राज, यहाँ
अन्याय नहीं कर पाओगे।
आज़ादी से क्या काम हमें,
हम 'हिजड़िस्तान' बनाएंगे।
तुम राजाजी के साथ-साथ,
चाहे कोशिश भरपूर करो !
अयि, वायसराय महाराज···

३१

दीवाली के दिन !

(अक्तूबर, १९४४)

"तुम खील-बताशे ले आओ,
हटरी, गुजरी, दीवट, दीपक।
लक्ष्मी - गणेश लेते आना,
झल्लीवाले के सर पर रख ।

कुछ चटर-मटर, फुलझड़ी, पटाके
लल्लू को मंगवाने हैं ।
तुम उनको नहीं भूल जाना,
जो खांड़-खिलौने आने हैं ।

फिर आज मिठाई आएगी,
शीला के घर पहुंचानी है।
नल चले जायँगे जल्द उठो,
मुझको भी भरना पानी है।"

"है झूंठ, चलेंगे नल दिन-भर
क्या मालूम नहीं दिवाली है ?
इस गवर्मिन्ट के शासन में
पानी की क्या कंगाली है !

पर खील मंगाती हो सुनकर
दिल खील-खील होजाता है।
यह तुम्हें नहीं मालूम,
खील-चांवल का कैसा नाता है?

चांवल की खीलें बनती हैं,
वह चांवल 'चोरबजार' गया!
सो मिलता है बेमोल, सोचकर
खील मंगाओ मत, कृपया!

वे खांड - खिलौने बने नहीं,
शक्कर पर प्रिय, कन्ट्रोल हुआ।
होगई मिठाई तेज कि खोआ
भी बजार से गोल हुआ।

फिर रहम करो, मत चटर-मटर
फुलझड़ी - पटाके मंगवाओ।
इनमें विस्फोटक चीजें हैं
सुन लेगा कोई भय खाओ!

हुं: मिट्टी के लक्ष्मी-गणेश का
पूजन भी क्या करती हो?
मैं लम्बोदर, गजदन्त, चरण
मेरे क्यों नहीं पकड़ती हो?

औ' मैं तो सदा-सदा से तुमको
लक्ष्मी कहता आया हूं।
हे गृहलक्ष्मी, घर की शोभा,
मैं इन चरणों की छाया हूं!

जिस दिन से घर में आई हो
उस दिन से सदा दिवाली है।
मैं अन्दर से धनवान, सिर्फ़
बाहर से ही कंगाली है।

सो, इसकी चिन्ता नहीं, आज
मैं खुद ही 'शेव' बना लूंगा।
है अभी चमक जिसमें बाकी
वह काला कोट निकालूंगा।

शीला को लेना साथ, रोशनी
तुमको आज दिखाएंगे।
घण्टेघर के चौराहे पर
हम चाट-पकौड़ी खाएंगे।

लल्लू को लेंगे गुब्बारा
वह हंसता-हंसता आएगा।
इस भांति दिवाली का मेला,
सस्ते ही में होजाएगा।"

३२

एजी कहूं कि ओजी कहूं ?

(नवम्बर, १९४४)

'एजी' कहूं कि 'ओजी' कहूं ?
'सुनोजी' कहूं कि 'क्योंजी' कहूं ?
'अरे, ओ' कहूं कि 'भाई' कहूं ?
कि सिर्फ 'भई' ही काफी है ?
अब तुम्हीं कहो, क्या कहूं ?
तुम्हारे घर में कैसे रहूं ?

मैं 'सरो' कहूं, या 'सरोजनी' ?
पर नाम न लेने तुम देतीं !

तो 'जग्गो की जीजी' कहदूं ?
ए 'शीला की संगिनि' बोलो,
तुम 'मुरली की महतारी' हो,
तुम 'ऊंचे छज्जेवारी' हो,
तुम 'चन्द्रकला की चाची' हो,
तुम 'भानामल की भूआ' हो,
तुम हो 'गुपाल की बहू',
............कहो क्या कहूं ?
तुम्हारे घर में कैसे रहूं ?

कुछ नये नाम ईज़ाद करूं,
प्राचीन प्रथा बर्बाद करूं,
या रूप, शील, गुण, कर्मों से ही
तुम्हें पुकारूं याद करूं ?
कि 'बुलबुल' कहूं कि 'मैना' कहूं ?
कि मेरी 'सौनचिरय्या' बोलो तो !
ये रसमय अपनी चौंच
'कोइलिया' खोलो तो ?

तुम संकल-चम्मच बजा-बजाकर
अपना काम चला लेतीं।
तो मुझको भी क्यों नहीं
कनस्तर टूटा-सा मंगवा देतीं ?

या खुद ही किसी रोज़
देवी के मेले में मैं जाऊंगा।
औ' छोटी-सी डुमडुमी एक
अच्छी खरीदकर लाऊंगा।

फिर सम्बोधन की सकल समस्या
पल में हल होजाएगी ।
जब कभी बुलाना होगा तो
डुम-डुम डुमडुमी बजाऊंगा !

तुम रूठ गईं ? यह ठीक नहीं,
तो कहो अटकनी कहूं ?
मटकनी कहूं, चटखनी कहूं ?
अब तुम्हीं कहो क्या कहूं ?
तुम्हारे घर में कैसे रहूं ?
मैं 'हनी' कहूं, या 'डियर' कहूं ?
या 'डार्लि' पुकारूं अंग्रेजी ?
या स्वयं देवता बन जाऊं ?
औ' तुम्हें पुकारूं देवीजी ?

ये देवी नहीं पसन्द ? कि
'मैंने कहा' इसे भी रहने दो ।
तुम 'मेरी क़सम' मान जाओ,
बस 'कामरेड' ही कहने दो ।

ए 'कामरेड', 'घर—गवर्मिन्ट',
मेरी 'स्टालिन' बोलो तो ?
मैं चर्चिल कब का खड़ा ? अरी,
फौलादी मुखड़ा खोलो तो ?

कि 'बिजली' कहूं, कि 'इंजिन' कहूं ?
कि मेरी 'बख्तरबन्द टैंकगाड़ी' !
अब तुम्हीं कहो, क्या कहूं ?
तुम्हारे घर में कैसे रहूं ?

३३

रोए जा !

(नवम्बर, १९४४)

[सनेही जी की एक कविता की पलट]

दुनिया हँसती है, हँसने दे,
फबती कसती है, कसने दे,
पर तू चुंगी के चुनाव में
पटपर नाव डुबोए जा !

तू रोए जा !

जाति - भेद फैलाता जा तू,
धर्म, अधर्म बताता जा तू,
पर जब वश न चले कोने में
टप - टप अश्रु पिरोए जा !

तू रोए जा !

सबको बाप बनाता जा तू,
खुद को आप गिराता जा तू,
मत गिरने को गिरना समझे
ग़म का बोझा ढोए जा !

तू रोए जा !

दौलत में लग गया पलीता,
फिर भी नहीं इलैक्शन जीता,
कोई बात नहीं है बन्दे
रुपए - पैसे खोए जा !

तू रोए जा !

धन गया, मगर न सवाद मिला,
अच्छा न तुझे उस्ताद मिला,
अब जीहुजूर से जाकर कह
ऊसर में दाने बोए जा !
तू रोए जा !

ऐ रोने वाले !

३४

हास्यावली !

(दिसम्बर, १९४४)

कोऊ कोटिक संग्रहौ, कोऊ लाख – पचीस ।
राम हमारी तो बनी रहै चार - सौ - बीस ।।

जाको राखै साइयां, मारि सकै ना कोइ ।
ज्यौं-ज्यौं चर्चिल कोसिए, त्यौं-त्यौं मोटो होइ ।।

राम झरोखा बैठिकैं, सबको मुजरा लेंइ ।
सिकल देखिकैं ऊजरी, तुरतहि 'परमिट' देंइ ।।

जप-तप-तीरथ मत करौ, बरतौ स्वेच्छाचार ।
नरकहु में अब खुलि गए, नामी चोर-बजार ।।

कृष्ण चले बैकुण्ठ कौं, राधा पकरी बांह ।
'ब्लैक-मेल' य्हां करि चलौ, वहां सुभीतौ नाइँ ।।

काल मरै सो आज मर, आज मरै सो अब्ब ।
ईंधन पै रासन भयो, फेरि मरैगो कब्ब ?

देखत ही हरखै नहीं, भूलै सकल सनेह ।
जेब-खर्च को नाम सुनि, बीवी धक्का देइ ।।

तुलसी या संसार में कर लीजै दो काम।
लैवे कूं सब कछु भलो, दैवे कूं न छदाम ।।

कबिरा नौबत आपनी, दिन दस लेहु बजाइ।
युद्ध-काल की नौकरी, ज्यादा टिकनी नांइ ।।

ठेकेदारी में बढ़े चाम, दाम अरु नाम।
दोऊ हाथ उलीचिए, यही सयानो काम ।।

'रायबहादुर' ना भये, देख्यो 'पेपर' छान।
कबहुँक दीनदयाल के भनक परैगी कान ।।

पड़े रहें दरबार में, धका धनी के खाइं।
अब कैं 'सर' है जाइंगे, पैर रहेंगे नाइं ।।

ससुर खड़े, पत्नी खड़ीं, काके लागूं पाइँ।
बलिहारी इन ससुर की, पत्नी दई विवाहि ।।

तनखा थोरी मिलत है, पत्रकार चिल्लाहिं।
रहिमन करुए मुखन कौं, चहियत यही सजाहि ।।

अरजी दै दै जग मुआ, नौकर भया न कोइ।
पढ़ै खुसामद कौ सबक, नौकर मालिक होइ ।।

रूंठी 'लीग' मनै नहीं, लाख मनाऔ कोइ।
रहिमन बिगरे दूध के मथे न माखन होइ ।।

जब लगि ही जीबो भलो, फलै चार-सौ-बीस।
बिना चार-सौ-बीस के, जीवन तेरह-तीस ।।

'वारफण्ड' के कारनै, सब धन डारौ खोइ।
मूरख जानै ख्वै गयौ, लाख-चौगुनौ होइ॥

एक घड़ी, आधी घड़ी, आधिहु में पुनि आध।
संगत साहूकार की, हरै कोटि अपराध॥

अर्थ, न धर्म, न काम-रुचि, पद न चहौं निर्वान।
पै 'तिकड़म' में सफलता, दीजै दयानिधान॥

ज्वार-मका की रोटियां, घासलेट कौ घी।
रूखी-सूखी खाइकै, ठंडौ पानी पी॥

कौन करै अब नौकरी, कौन करै, व्यापार।
राम सलामत जो रखै, जुग-जुग चोरबजार॥

सांकर घर की लग गई, रात भई जो देर॥
रहिमन चुप ह्वै बैठिए, देख दिनन के फेर॥

सियावर रामचन्द्र की जय !
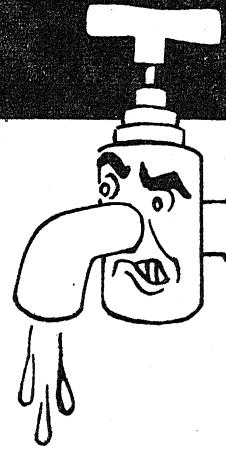
३५

स्नान-धर्म !

(जनवरी, १९४५)

तुम कहती हो कि नहाऊं मैं !

क्या मैंने ऐसे पाप किये, जो इतना कष्ट उठाऊं मैं?

क्या आत्म-शुद्धि के लिए ?
नहीं, मैं वैसे ही हूं स्वयं शुद्ध;
फिर क्यों इस राशन के युग में
पानी बेकार बहाऊं मैं ?

यह तुम्हें नहीं मालूम
दालदा भी मुश्किल से मिलता है;
मैं वैसे ही दुबला-पतला
फिर नाहक मैल छुड़ाऊं मैं ?

फिर देह-शुद्धि तो भली आदमिन,
कपड़ों से होजाती है !
ला कुरता नया निकाल,
तुझे पहनाकर अभी दिखाऊं मैं ?

"मैं कहती हूं कि जनम तुमने
बामन के घर में पाया क्यों ?
वह पिता वैष्णव बनते हैं
उनका भी नाम लजाया क्यों ?"

तो बामन बनने का मतलब है
कतल मुझे करवा दोगी ?
पूजा-पत्री तो दूर रही
उलटी यह सख्त सज़ा दोगी !

(अरे) बामन तो जलती भट्टी है,
तप-तेज-रूप, बस, अग्निपुन्ज !
क्या उसको नल के पानी से
ठंडा कर हाय, बुझा दोगी ?

यह ज्वाला हव्य मांगती है—
घी, गुड़, शक्कर, सूजी, बदाम !
क्या आज नाश्ते में मुझको
तुम मोहनभोग बना दोगी ?

"बस, मोहनभोग, मगद, पापड़
ही सदा जीभ पर आते हैं।
स्नान, भजन, पूजन, संध्या,
सब चूल्हे में झुक जाते हैं।"

तो तुम कहती हो—मैं स्नान,
भजन, पूजन, सब किया करूं !
जो औरों को उपदेश करूं,
उसका खुद भी व्रत लिया करूं !

प्रियतमे, ग़लत सिद्धान्त,
एक कहते हैं, दूजे करते हैं!
तुम स्वयं देख लो युद्ध-भूमि में
सेनापति कब मरते हैं!

मैं औरों के कन्धों से ही
बन्दूक चलाया करता हूं।
यह धर्म, कर्म, व्रत, नियम
नहीं मैं घर में लाया करता हूं।

फिर तुम तो मुझे जानती हो
मैं सदा झिकाया करता हूं।
कातिक से लेकर चैत तलक
मैं नहीं नहाया करता हूं।

३६

पत्र का उत्तर !

(फरवरी, १९४५)

पूछा है एक श्रीमती ने
चिट्ठी लिखकर सम्पादक को—
"कवि, यह जो गीत लिखा करता,
वह कौन ? कहां पर रहता है ?

रंग कैसा है ? क़द कैसा है ?
आदत, व्यवहार, चलन कैसा ?
इसकी शादी होगई या कि
अविवाहित है, आवारा है ?"

कर कृपा मुझे सम्पादकजी ने
चिट्ठी वह दिखलादी है ।

या कहूं कि मेरे जीवन में
एक नई रोशनी ला दी है।

मैं अस्त-व्यस्तपन छोड़,
धुले कपड़ों की आदत डाल रहा।
मैं उस दिन से ही तेल डाल
यह टेढ़ी मांग निकाल रहा !

कुछ ऐसा मुझको हुआ कि
अब तो रोज़ नहाया करता हूं।
हनुमान, विनय सुनलें मेरी
'चालीसा' गाया करता हूं !

सुनता हूं, सुबह टहलने से
चेहरे पर रौनक आती है।
सुनता हूं सांस रोकने से
छाती चौड़ी होजाती है !

मैं सांस रोकता, दौड़ा करता,
गाजर खाया करता हूं।
मैं भर-भर हवा, देख शीशे में
गाल फुलाया करता हूं !

अब, अपने पूर्व परिचितों से
कम मिलता हूं, कतराता हूं।
मैं लम्बे - लम्बे डग भरता
टेढ़ा - ही - टेढ़ा जाता हूं।

ये राह निकलते नर - नारी।
जो मुझको ताका करते हैं।
मैं अनुभव करता हूं मेरे
पौरुष को आंका करते हैं।

ये सोचा करते हैं शायद—
"देखो क्या गबरू जाता है !
है चाल मस्त गैंडे जैसी
बारहसिंगा शरमाता है !"

मैं नज़रों से हैरान, निगाहें
मुझको देख हंसा करतीं !
ये गली-मुहल्ले की परिचित
भाभियां अवाज़ कसा करतीं।

कहती हैं—"लाला, आज कहां,
तुम लपके - लपके जाते हो ?
यह नया कोट, चप्पलें नई,
कुछ बदले - से दिखलाते हो !

हां, सचमुच ही मैं बदल गया हूं,
इस चिट्ठी के आने से ।
ज्यों मरा सांप जी उठता है,
पूरबी हवा लग जाने से ।

मैं चिट्ठी की लिपि पर से ही
अनुमान लगाया करता हूं ।
तुम सुन्दर हो, सुमनांगी हो,
विदुषी ठहराया करता हूं ।

तुम यू० पी० की रहने वालीं,
लाहौर बस गईं जाकर हो ।
ए सुमुखि ! मुझे मालुम होता,
तुम सचमुच पास 'प्रभाकर' हो ।

मैं ख़त से पूछा करता हूं—
वे और लिखा करती हैं क्या ?
ए स्याही ! बता, कलमवाली,
हर रोज़ किया करती हैं क्या ?

क्या सचमुच उनको कविता से
है प्रेम ? सिनेमा जाती हैं ?
क्या सचमुच ही स्टेशन से
'माया' हर माह मंगाती हैं ?

क्या सचमुच ही वे ओठ
रंगा करती हैं ? भौंह बनाती हैं ?
क्या सचमुच ही जब हंसती हैं
आंखें छोटी होजाती हैं ?

ए नरम लिफाफे, बतला दे,
वे नरम-नरम दिलवाली हैं ?
या उनका रूखा है स्वभाव
टेढ़ी हैं, हंटरवाली हैं !

ओ हंटरवाली ! अरे, अरे !
मैं कौन ? कहां ? क्या सोच रहा ?
यह कौन खड़ा पीछे कुर्सी के
धीमे - धीमे नोच रहा ?

आं, · · · तुम हो 'जग्गो की जीजी',
हां, आओ, ऐंजी ?–'ये क्या है ?',
ये चिट्ठी ? अरे, नहीं छो ो,
यह तो दफ्तर का पुर्जा है !

हां, पुर्जा है, लिक्खा है—जल्दी
आओ, काम ज़रूरी है ।
मैं जाता हूं, क्या करूं,
नौकरी है, बेहद मजबूरी है !

"ये दफ्तर के पुर्जे कबसे
इस घर में आते - जाते हैं ?
मैं देख रही हूं रंग - ढंग
कुछ बदले - से दिखलाते हैं !

लाओ, देखूं आखिर क्या है ?"
ए नहीं, तुम नहीं समझोगी !
लाओ, सम्हालकर रख छोड़ूं
वरना तुम कहीं फेंक दोगी ।

"जी नहीं, इसे मैं भी सम्हालकर
रक्खूंगी, घबराओ मत ।"
लो तुम भी क्या सर पड़ीं
सिर्फ पुर्जा है, शंका खाओ मत !

"मैं पुर्जे को, पुर्जेवाली को
कच्चा ही खा जाऊंगी ।
मैं नहीं उठाई आई हूं,
ब्याही हूं, मज़ा चखाऊंगी ।

ये कौन कलमुंही डाइन है
जो यों तुमको भरमाती है ?
भगवान, घोर कलियुग आया
धरती न हाय फट जाती है !

ओ मय्या री, ओ बाबा रे,
अच्छे घर में तुमने ब्याही ।
मैं उधर गिरूं तो कूआ है,
औ' इधर गिरूं तो है खाई !"

× × ×

ओ खतवाली, अब तुम्हीं कहो,
ये चिट्ठी इन्हें दिखादूं क्या ?
या जो कुछ अब तक सोचा है,
वह फिर से इन्हें सुना दूं क्या ?

३७

हिटलर मारा गया !

(मई, १९४५)

जर्मनवाला डाल गया हथियार,
हिटलर मारा गया, होगई हार,
योरुप के संगीन मोर्चे पर जीती सरकार !

'हाकर' के यूं चिल्लाते ही,
लाला का आसन डोल गया !
लल्ली कांपी, लल्ला रोया,
लालाइन के पड़ झोल गया !

सोचने लगे—क्या सचमुच ही,
सोना पचास होजाएगा ?
कपड़े की गांठें छिपा रखीं,
इनका विनाश होजाएगा !

अब तीन रुपए की चीज़,
तीस में हाय नहीं बिक पाएगी ?
अब क्या बज़ार में शिवशंकर !
पहली - सी सुस्ती छाएगी ?

ए महादेव ! भोले बाबा !
औघड़दानी ! ऐसा वर दो !

सोने का सांप चढ़ाऊंगा,
हिटलर को फिर ज़िन्दा कर दो।

ए मजिस्ट्रेट महाराज, भले ही
'वारफण्ड' तुम ले जाओ।
सर्टीफिकेट के भी काग़ज़
जो नहीं बिके हों दे जाओ।

पर। माई-बाप, कृपा करके
फौजों को हुक्म सुना डालो!
तुम मरे हुओं को ही मारो,
ज़िन्दों के खून सुखा डालो!

सोने को रोके रहो
महल सोने का मुझे बनाने दो।
चांदी को काग़ज़ ही कर दो,
पर मुझ पर आंच न आने दो।

लो, मलमल का यह एक थान,
कल रेशम का भिजवाऊंगा।
बनिया का बेटा हूं हुजूर,
कह दूंगा उसे निबाहूंगा।

(२)

जर्मनवाला डाल गया हथियार,
हिटलर मारा गया, होगई हार,
योरुप के संगीन मोर्चे पर जीती सरकार।

'हाकर' के यूं चिल्लाते ही
बाबू सोया था जाग गया।
दिन में ही तारे दीख गये,
आलस-खुमार सब भाग गया।

सोचने लगा—क्या सचमुच ही
क्वाटर मेरा छिन जाएगा ?
क्या सचमुच ही 'सप्लाई' का
यह दफ्तर मारा जाएगा ?

क्या सचमुच ही अब बेकारी
फिर से मुंह फाड़े आएगी ?
जैसे-तैसे जो शान्त हुई
वह बीवी फिर सिर खाएगी ?

हे बजरंगी ! हे रणरंगी !
हनुमान गये किस लंका में ?
जल्दी आकर के पुल बांधो,
यह भक्त पड़ा है शंका में !

तुलसी के चिन्तन पर तुमने
लाखों बन्दर उपजाए थे।
सुनता हूं शाह अकब्बर के
छक्के तुमने छुड़वाए थे।

तो महावीर ! अंजनी-पूत !
वैसा ही कौतुक दिखलाओ।
पश्चिम के विकट मोर्चे पर
तुम कुमुक बानरी भिजवाओ !

कोई हारे, कोई जीते
इसकी विशेष परवाह नहीं।
वेतन में और तरक्की हो
इसकी भी है अब चाह नहीं।

पर रामदूत, ऐसा वर दो,
'लैजर - फायल' ये बनी रहें।
मैं रहूं, रहे नौकरी सदा
हाकिम की नज़रें घनी रहें।

(३)

जर्मनवाला डाल गया हथियार,
हिटलर मारा गया होगई हार,
योरुप के संगीन मोर्चे पर जीती सरकार।

सम्पादक की पत्नी बोली,
"लो, झगड़ा मिटा लड़ाई का।
अब सांस खुले में हम लेंगे,
युग बीत गया महंगाई का।

मैं अब मानूंगी नहीं, ज़रूरी
चीज़ें कुछ बनवाऊंगी।
सोना पचास होते ही मैं
बाज़ार दरीबे जाऊंगी।

पर बात लड़ाई की सुनकर
'एडीटर' का मुंह सूख गया।
सोने की चर्चा चलते ही
बेचारे का दिल टूट गया!

यूं सोचा खादीधारी ने,
यूं सोचा व्योमविहारी ने,
यूं सोचा तबियत खारी ने,
यूं सोचा........................ने ।

क्या सचमुच ही महंगाई का
यह भत्ता मारा जाएगा ?
जो बोनस दुगुना-तिगुना है
वह हाय उतारा जाएगा !

जैसे - जैसे ये सौ - पचास
जो जमा हुए चुक जाएंगे ।
फिर इन्द्रिय-दमन शुरू होगा
सत्याग्रह के दिन आएंगे ?

हे 'रूटर' की मशीन उगलो
तुम ही कुछ हाल लड़ाई के !
हे मोलोटोव तुम्हीं हो अब
सचमुच में केन्द्र बड़ाई के !

ए वेविल देखें दृष्टि तुम्हारी
कितनी पैनी जाती है ।
ए चर्चिल देखें चाल तुम्हारी
अब क्या-क्या रंग लाती है ?

३८
रसिया !

(जून, १९४५)

अरे, पानी कौ पड़ौ अकाल, मोइ अपने देस बुलाइलै ।
चिट्ठी लिखूं दुलारेलाल, मोइ अपने देस बुलाइलै ।

जा दिन ते दिल्ली आई,
मैंने बड़ी मुसीबत पाई,
अरे, मेरौ हाल भयौ बेहाल, मोइ अपने देस बुलाइलै ।

य्हां कपड़ा मिलै न लत्ता,
मैंने ढूंढ्यौ पत्ता - पत्ता,
ढक्का खाए, खिच गई खाल, मोइ अपने देस बुलाइलै ।

य्हां चून किरकिरौ आवै,
मेरे भय्या, मोइ न भावै,
अरे, लकरिन की मिट गई टाल, मोइ अपने देस बुलाइलै ।

अब नल में रह्यौ न पानी,
याइ पीगई चुंगी नानी,
झूंठे पड़े कटोरा - थाल, मोइ अपने देस बुलाइलै ।

य्हां दिन में भूभर बरसै,
दुनिया पानी कूं तरसै,
मैं तो हैगई खूब निहाल, मोय अपने देस बुलाइलै ।

मेरे राम मुसीबत आई,
हैगए तीन दिना नाइं न्हाई,
अरे, मेरे बार भए जंजाल, मोइ अपने देस बुलाइलै।

मोइ अच्छी दिल्ली ब्याही,
पानी की हु यहां तबाही,
गटरन के बुरे हवाल, मोइ अपने देस बुलाइलै।

३९

आदत से मजबूर !

(जुलाई, १९४५)

सूर सूर, तुलसी ससी, उडगन केशवदास ।
पन्त-निराला बल्ब हैं, लालटेन हैं व्यास ।।

लालटेन है व्यास कि जिसमें तेल नहीं है ।
बत्ती बिगड़ी हुई जलाना खेल नहीं है ।।

चिमनी फूटी हुई कि जिसका मेल नहीं है ।
'माडल' उन्तालीस कि जिसकी 'सेल' नहीं है ।।

शब्द, अर्थ और व्यंग्य से यद्यपि कोसों दूर हूं ।
लेकिन, इसको क्या करूं आदत से मजबूर हूं ।।

४०

तू राम भजन कर प्रानी !

(अगस्त, १९४५)

तू राम भजन कर प्रानी !
क्या लट्ठा-मलमल पहनेगा, धोती बांध जनानी !

पहन जनानी धोती बन्दे,
कुरता बना फाड़कर नम्दे,
उनसे कहदे टाट लपेटें, माया आनी-जानी !
तू राम भजन कर प्रानी !

मैदा-सूजी मत खा भाई,
शक्कर, शर्बत त्याग मिठाई,
बना सौंठ का पानी, जिससे जाती रहे गिरानी !
तू राम भजन कर प्रानी !

मत मिटटी का तेल जला रे,
आंखें फूट जायँगी प्यारे,
धीरे-धीरे स्वयं रात में सूझ उठेगा ज्ञानी !
तू राम भजन कर प्रानी !

४१

जो लिखी न हो घरवाली पर !

(अक्तूबर, १९४५)

दफ्तर ने कविता मांगी है,
जो छापी जाय दिवाली पर।
फिर शर्त लगाई है ऐसी,
जो लिखी न हो घरवाली पर !

तो, मेरी सरस्वती बोलो,
मैं क्या गाऊं ? कैसे गाऊं ?
तुझ रसवन्ती को छोड़,
कल्पना और कहां से मैं लाऊं ?

यों दुनिया में नर हैं, पंछी
हैं, ऊंट, पहाड़, नदी - नाले !
पर मुझको तो अच्छे लगते,
ये तेरे सेव मिरच वाले !

हां, सुनो, दिवाली है तुमने,
इस बार न सेव बनाए हैं।
गुझिया, पपड़ी सूजी-बेसन
के लड्डू नहीं चखाए हैं।
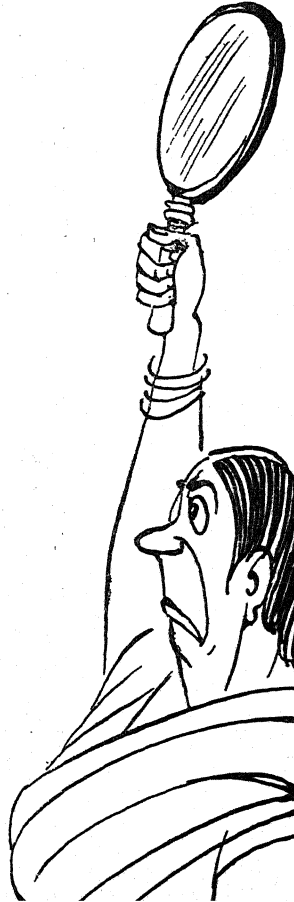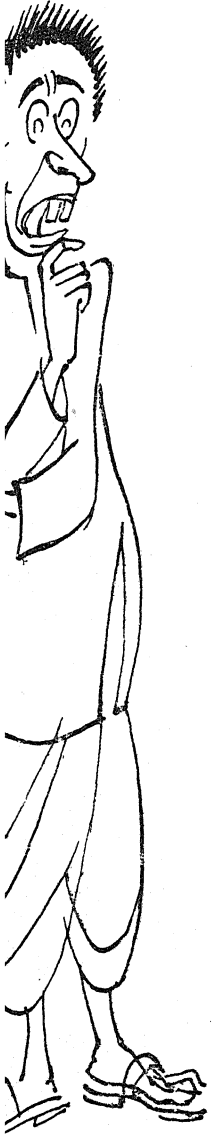
और दही-बड़े ? रहने भी दो,
तुम अब बूढ़ी होती जातीं ।
कुछ याद नहीं, कुछ स्वाद नहीं,
रसवाद सभी खोती जातीं ।

"तुम बूढ़े होगे, बड़े मुझे
बूढ़ी बतलाने आए हो ।
लो, शीशे में चेहरा देखो,
तुम खुद लगते बुढ़ियाए हो ।

ये नाक तुम्हारी उचकी-सी,
ये गाल तुम्हारे बैठे हैं !
ये आंख तुम्हारी तिर्र-फट्ट-सी,
कान तुम्हारे ऐंठे हैं !

ये दांत तुम्हारे तिड़बंगे,
है कमर कमन्द-कमानी-सी !
हैं ढंग तुम्हारे ताऊ-से,
और चाल तुम्हारी नानी-सी !"

ओहो, इस छवि का क्या कहना,
बलिहारी है, बलिहारी है ।
यह सूप बिचारा हार गया,
चलनी ने बाजी मारी है ।

मैं इसीलिए तो कहता हूं,
तुम बुद्धिराशि हो कल्याणी !
उर्वशी, इन्दिरा, गिरा, उमा,
सब भरती हैं तुमसे पानी ।

क्या उर्बर बुद्धि तुम्हारी है !
क्या अदभुत् गिरा उचारी है !
क्या-क्या उमपाएं देती हो !
क्या मौलिक सूझ तुम्हारी है !

हां, माना लम्बी नाक तुम्हारी,
सचमुच सूआसारी है !
हां, माना, आंख तुम्हारी ऐसी,
जैसी खुली कटारी है !

हां माना, दांत तुम्हारे मानो
दाड़िम के-से दाने हैं !
हैं पाम तुम्हारे हाथी के-से,
काम बड़े मरदाने हैं !

"पाम तुम्हारे हाथी के-से
होंगे, मुझे बनाते हो ?"
मैं भूल गया मेरा मतलब,
गजगामिनि था, "बहकाते हो ?

तुम शायद यह समझे बैठे,
यह अपढ़ बे-समझ नारी है !
इससे जो चाहो सो कह दो,
क्या समझे बात बेचारी है !

पर, मैं वकील की बेटी हूं,
पंडित के कुल में ब्याही हूं।
मैं शत्रु-विरोधी तर्कशास्त्र,
तो घुट्टी में पी आई हूं।"

पर तर्कशास्त्र की प्रमुख पंडिते,
पाकशास्त्र भी आता है ?
या लाल किले पर अभी तलक,
यूनियन जैक लहराता है ?

"जी नहीं, यहां सब कुछ तयार है,
खील - बताशे ले आओ ।
'जय-हिन्द', 'चलो दिल्ली' की
रौनक आज शाम को दिखलाओ।"

४२

चला जा !

(सितम्बर, १९४५)

[श्री मीर मुश्ताक अहमद की एक नज़्म की पलट]

गरीबों के घर का तो मालिक ख़ुदा है,
तू अपना ही रुतबा बढ़ाता चला जा।
बग़ावत से रह दूर, जा रेडियो पर,
तू जंगी तराने सुनाता चला जा।
गरीबों से क्या पाएगा तू तरक्की,
अमीरों से दिल को मिलाता चला जा।
तू बच्चों से उनके मुहब्बत किये जा,
हरम की हुकूमत उठाता चला जा।
ये उर्दू न हिन्दी कभी बन सकेगी,
तू अपनी कमाई कमाता चला जा।
निराशा से जी छोड़ बैठे हैं अक्सर,
उन्हें राह अपनी दिखाता चला जा।
ये मुमकिन नहीं तू हटे हार जाए,
खुशामद के बस गुल खिलाता चला जा।
अगर तुझको साहब कभी गालियां दें,
उन्हें झेलता मुस्कराता चला जा।
अगर काम बनता है सर को झुकाए,
तो सौ बार सर को झुकाता चला जा।

अगर हेड बनना है दफ्तर में तुझको,
शिकायत किये जा, सुझाता चला जा।
जहां भी अंधेरा नजर आये तुझको
तू मौके के दीये जलाता चला जा।

तू लीडर बनेगा कहा मान मेरा,
बयानों को शाया कराता चला जा।
गुलामी से मत डर, मिनिस्टर बनेगा
कि बस, हां-में-हां तू मिलाता चला जा।

न डर देशभक्तों से, बकते हैं ये तो,
कदम अपना आगे बढ़ाता चला जा।
ये अखबार वाले अगर तुझको छेड़ें,
तो पर्वाह न कर लड़खड़ाता चला जा।
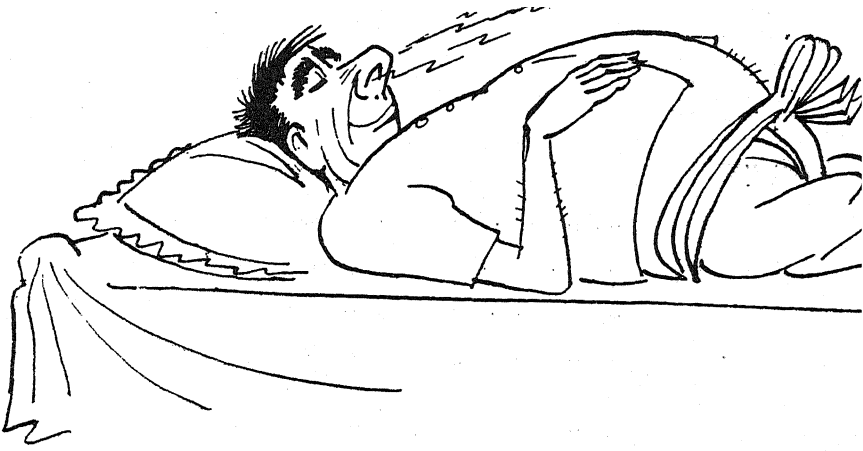
४३

आराम करो !

(जनवरी, १९४६)

एक मित्र मिले, बोले, "लाला,
तुम किस चक्की का खाते हो ?
इस छै छटांक के राशन में भी
तौंद बढ़ाए जाते हो !

क्या रक्खा मांस बढ़ाने में
मनहूस, अकल से काम करो !
संक्रांति - काल की बेला है
मर मिटो, जगत में नाम करो !"

हम बोले, रहने दो लिक्चर,
पुरखों को मत बदनाम करो।
इस दौड़-धूप में क्या रक्खा,
आराम करो, आराम करो !

आराम, ज़िन्दगी की कुंजी,
इससे न तपेदिक होती है।
आराम-सुधा की एक बूंद
तन का दुबलापन खोती है

आराम शब्द में राम छिपा,
जो भव-बन्धन को खोता है!
आराम शब्द का ज्ञाता तो
बिरला ही योगी होता है।

इसलिए, तुम्हें समझाता हूं,
मेरे अनुभव से काम करो।
ये जीवन–यौवन क्षणभंगुर,
आराम करो, आराम करो!

यदि करना ही कुछ पड़ जाए
तो अधिक न तुम उत्पात करो।
अपने घर में बैठे - बैठे,
बस, लम्बी-लम्बी बात करो!

करने - धरने में क्या रक्खा,
जो रक्खा बात बनाने में।
जो होठ हिलाने में रस है
वह कभी न हाथ चलाने में!

तुम मुझसे पूछो, बतलाऊं—
है मज़ा मूर्ख कहलाने में!
जीवन-जागृति में क्या रक्खा?
जो रक्खा है सो जाने में!

(क्योंकि)तुम चतुर बनो चाहे जितने,
वे बुद्धू ही बतलाएंगी।
दो पैसे की तरकारी पर
लाखों ही बात सुनाएंगी।

कह देंगी—"तुमसे तो अच्छा,
लड़का सौदा ले आता है।
तुम छै बच्चों के बाप हुए
कुछ आता है, ना जाता है !"

मैं यही सोचकर, पास अकल के
कम ही जाया करता हूं।
जो बुद्धिमान जन होते हैं,
उनसे कतराया करता हूं।

दीये जलने के पहले ही
घर में आजाया करता हूं।
जो मिलता है खा लेता हूं
चुपके सोजाया करता हूं।

मेरी गीता में लिखा हुआ—
जो सच्चे योगी होते हैं।
वे कम-से-कम बारह घण्टे
तो बेफिक्री से सोते हैं !

अदवायन खिंची खाट में जो
पड़ते ही आनंद आता है।
वह सात स्वर्ग, अपवर्ग, मोक्ष से
भी ऊंचा उठ जाता है !

जब निद्रा - भक्त लगा लुंगी,
लम्बी टांगें फैलाता है ।
तो सच कहता हूं स्वर्ग,
हाथ से दो अंगुल रह जाता है !

जब नरम गुदगुद गद्दे पर
चादर सफेद बिछ जाती है।
तो, ऐसा लगता है यू० पी० में
पंत - मिनिस्ट्री आती है!

जब 'सुख की नींद' कढ़ा तकिया,
इस सर के नीचे आता है।
तो, सच कहता हूं इस सर में
इंजन जैसे लग जाता है!

मैं मेल ट्रेन होजाता हूं,
बुद्धी भी फक-फक करती है।
भावों का 'रश' होजाता है।
कविता, बस, उमड़ी पड़ती है!

जब हिन्दी का कवि, पड़ा-पड़ा,
खटिया पर करवट लेता है।
तो, बिना कलम–काग़ज़ धरती–
आकाश एक कर देता है!

उस वक्त, पलंग पर की मक्खी भी
चन्द्रमुखी बन जाती है!
झींगुर की भी आवाज़
पायलों का धोखा दे जाती है!

मैं औरों की तो नहीं, बात
पहले अपनी ही लेता हूं।
मैं पड़ा खाट पर बूटों को
ऊंटों की उपमा देता हूं!

मैं खटरागी हूं, मुझको तो
खटिया में गीत फूटते हैं !
छत की कड़ियां गिनते-गिनते,
छन्दों के बन्द टूटते हैं !

मच्छर का इंजैक्शन लगते ही
जो चेतनता आती है !
वह ऐसी पाकिस्तानी है,
शब्दों में कही न जाती है !

मैं इसीलिए तो कहता हूं
मेरे अनुभव से काम करो !
यह खाट बिछालो आंगन में
लेटो, बैठो, आराम करो !

४४

मैं भी बदला, तुम भी बदलीं ...!

(मार्च, १९४६)

यह पहली होली आई है ।
जब मैं बदला ऐसे, जैसे
भगतिन होगई बिलाई है !
यह पहली...

जी-तोड़ करी कोशिश लेकिन,
फिर भी मैं छैला बन न सका ।
छल्ले बालों में पड़ न सके,
छाती का पंजर तन न सका ।

खाता था रोज टमाटर पर
चेहरे पर खून नहीं आया ।
आंखें त्रिफले से धोता था
पर वह मज़मून नहीं आया ।

गालों को खुरचा करता था
फिर भी ये खाकी-खाकी थे ।
मालिश-पर-मालिश करता था
तन-पर कांटे-से बाकी थे ।

कोई मुझको देखे, देखे,
पर दुनिया नहीं पिघलती थी।
'बारहखम्भे की भीड़' मुझे
मुंह बिचकाकर ही चलती थी।

तो हुआ बड़ा वैराग्य
बाल सर के मुंडवाकर आया हूं।
मलमल तो मिलती ही कब थी,
खादी खरीदकर लाया हूं!

ऊंची धोती, नीचा कुरता,
घुटमुंड चांद वैरागी हूं।
मैं अपनी नज़रों में स्वामी,
जग की नज़रों में त्यागी हूं।

अब सब कुछ खुद ही आता है,
पर मैं न हाथ में लेता हूं।
उस ओर वहां सेक्रेट्री हैं,
अंगुली से बतला देता हूं।

वे 'सब' कर देते हैं प्रबन्ध,
मैं चादर में छिप जाता हूं।
पहले मैं केवल रामू था
अब रामानन्द कहाता हूं।

मेरे भाषण - आकर्षण की
हर ओर दुहाई छाई है।

यह पहली···

(२)

यह पहली होली आई है ।
जब तुम बदलीं ऐसे, जैसे
बदली कुछ नौकरशाही है ।

यह पहली…

मैं देख रहा हूं इधर प्रिये,
तुम में परिवर्तन आया है !
जम्पर बदला, साड़ी बदली,
बदला अन्दर का साया है !

अब बदली सर की मांग,
तेल भी बदला खुशबू वाला है,
इयरिंग बदले, लाकिट बदला,
सब बदला हुआ मसाला है !

लग जाय नजर तुमको न कहीं,
क्यों पंजाबिन होती - जातीं ?
'मजदूरों की सरकार' ! पुराना
फूहड़पन खोती जातीं ?

मैं देख रहा हूं इधर, दाल में
बाल नहीं मिल पाता है !
अब बिना कहे ही क्यों मुझको
दाना-पानी मिल जाता है ?

एक बात बताओगी कट्टो,
कुछ राज़ नहीं मिल पाता है ?

इस काले, अदना, सेवक को
अब क्यों पुचकारा जाता है ?

अब तो मेरी घुड़की भी तुम
दो-एक बार सुन लेती हो !
या ख़ैर करे परवरदिगार,
तुम भी अब मुस्का देती हो !

कुछ नहीं समझ में आता है,
तुम हारी, या मैं जीता हूं ?
मैं गरम दूध का जला हुआ हूं,
छाछ फूंककर पीता हूं !

संगिनि, तुमने समझौते का
इस दम जो क़दम उठाया है।
वह खुदा क़सम, सच्चा है या
उसमें भी कोई माया है ?

या नई "चार-सौ-बीस" प्रिये,
तुमने कोई अपनाई है ।

यह पहली···

(३)

यह पहली होली आई है ।
जब मैं बदला, तुम भी बदलीं,
लाला ने ली अंगड़ाई है ?

यह पहली···

जब राम-कृपा से लाला ने
लाखों ही टके कमाए हैं।
सरकार टापती रही, हजारू-
नोट सभी भुनवाए हैं !

मैं तो इस निर्णय पर पहुंचा
लालाओं से जग हारा है।
सरकार बिचारी तुच्छ, इन्होंने
परमेसुर दे मारा है !

तुम इधर करो कण्ट्रोल,
उधर ये चोरबज़ार चला देंगे।
सूरज का भी आजाय बाप
उसको भी कहीं छिपा देंगे !

अब होली के ही दिन देखो
मिलता है रंग-गुलाल नहीं।
गेहूं गायब, शक्कर गायब,
बन सकते घर में माल नहीं।

पर, मटरूमल के घर देखो,
रंग की नदियाँ बहती होंगी।
कैसा गेहूं, सूजी, मैदा
की गुझियाएं पकती होंगी।

उन नये गढ़ाए गहनों में
लालाइन झमक रही होंगी।
वायल के झीने कपड़ों में
वह दूनी चमक रही होंगी।

भगवान्, अगर इस जीवन में
कुछ अच्छे पुण्य कमाऊं मैं।
तो जन्म दूसरा किसी बड़े
लाला के घर में पाऊं मैं!

फिर नहीं लड़ाई व्यापेगी,
कण्ट्रोल न जिगर जलाएगा।
हर रात दिवाली नाचेगी,
हर दिन होली ले आएगा।

सच पूछो तो इस दुनिया में
लालाओं की बन आई है।
यह पहली···

४५

धोखा हुआ !

(जन, १९४६)

मैं खुद बड़ा होशियार था,
तैराक़, तीरन्दाज़ था ।
अपनी अकल पर क्या कहूं,
मुझको बड़ा ही नाज़ था ।

थी खोपड़ी छोटी, मगर,
इसमें भरा तूफान था ।
इसमें भरी थीं खूबियां
इसमें भरा शैतान था ।

पर, हवा कुछ ऐसी चली,
जिससे अंधेरा छागया ।
शैतान भी चकरा गया ।
समझा न कुछ, घबरा गया ।

धोखा हुआ, धोखा हुआ !

हां, देह पतली थी, मगर,
मैं था न पतला खून का ।
थी शक्ल कुछ ऐसी कि बस,
मजमून था कार्टून का !

यों बात थी कुछ भी न पर,
हावी जहां पर होगया ।
मैं वह नमूना था कि सांचा,
ढाल मुझको खोगया !

मैं था बड़ा बातून, पर
बातों में उनकी आगया ।
मैं 'मिशन' के प्रस्ताव को,
हलुआ समझकर खागया !

धोखा हुआ, धोखा हुआ !

मैं उस गुरू का शिष्य था,
जो 'ना' सिखाकर मर गए !
जो 'हां' से तोबा कर गए,
और नाम 'जी ना' धर गए !

मैं सीख पर चलता रहा,
फूला किया, फलता रहा ।
मेरा दिया सुनसान में
ही सही, पर जलता रहा !

पर बुद्धि पर पाला पड़ा,
गुरु के वचन बिसरा गया ।
अपनी असल को छोड़कर,
मैं 'ना' से 'हां' पर आगया !

धोखा हुआ, धोखा हुआ ।

पर होगया सो होगया,
उसका नहीं अफसोस है ।
फिर 'ना' के 'फिट' आने लगे,
और 'हां' हुई खामोश है ।

मैं बेनज़ीर फकीर हूं,
मेरी दुआ 'सब दे' में है।
मैं लाइलाज मरीज़ हूं,
मेरी दवा परदे में है ।

मैं खुद कटीली धार था,
पर वज्र से टकरा गया।
मैं तेज शुतुर-सवार था,
पर हाय, ठोकर खागया!
धोखा हुआ, धोखा हुआ !

४६

ग़लती पर पछताता हूं मैं !

(सितम्बर, १९४७)

ग़लती पर पछताता हूं मैं !

पता नहीं था कभी जेल
जाना भी ऐसे रंग लाएगा !
पता नहीं था कभी कि नेहरू
बड़ा मिनिस्टर होजाएगा !

होता यदि मालूम मुझे तो
मैं भी था पूरा हरजाई !
छाती पर यदि नहीं, पीठ
पर ही डंडा खा लेता भाई !

करतब में यदि नहीं, लैक्चरों
में ही धुआंधार कर देता !
बयालीस में छिप जाता, बस
बन जाता जनता का नेता !

थोड़ा - सा दे कष्ट बाद में
अगर मिनिस्टर मुझे बनालो,
क़सम आपकी, नहीं जेल जाने
से अब घबराता हूं मैं !

ग़लती पर...

ये जयहिन्द - काल है, इसमें
बन जाओ झांसी की रानी!

इस बैठक में नेताओं के
कल से देखो चित्र लगालो।
नेहरूजी की नई किताबें
जाओ, वी० पी० से मंगवालो।

और देखना, फंड मांगना
तुम्हें सीखना होगा ढंग से।
नई रसीदें, नये बकस
बनवाकर फौरन लाता हूं मैं!

ग़लती पर…

४७

मैं भी अब हड़ताल करूँगी !

(दिसम्बर, १९४६)

पढ़-पढ़ कर अखबार
बदलती जाती हैं 'जग्गो की जीजी',
आज सबेरे बोलीं, "सुनना,
मैं भी अब हड़ताल करूंगी !

दुनिया जब हड़ताल कर रही
अपनी आदत छोड़ पुरानी।
तो बीसवीं सदी की नारी,
कैसे सह सकती मनमानी ?

आखिर तुमने क्या समझा है,
मैं कोई कमज़ोर नहीं हूं ?
कल से बन्द तुम्हारा खाना,
कल से बन्द तुम्हारा पानी।

सावधान ! कल प्रातकाल से
खाटें नहीं उठाऊंगी मैं !
कान खोलकर सुन लो, कल से
झाड़ू नहीं लगाऊंगी मैं ।

पानी नहीं भरूंगी, बर्तन
साफ करूंगी नहीं किसीके
अपना चूल्हा आप सम्भालो
खाना नहीं पकाऊंगी मैं !

सुनते हो ? मैं एक रोज़
पहले से चेताए देती हूं !
आंखों–आगे खरा जुबानी
नोटिस चिपकाए देती हूं ।

मैं क्या दिल्ली के अध्यापक
से भी कम हूं किसी बात में;
बड़ी पुरानी 'सोशलिस्ट' हूं,
धमकाए से नहीं डरूंगी !"

मैं भी अब हड़ताल...

सुनते ही हड़ताल शब्द के
अकल सुन्न होगई हमारी !
हे भगवान् ! हमारी 'इनको'
यह क्या लगी नई बीमारी ?

रोना धोना, मैके जाना
ये गोले ही विध्वंसक थे,

किस दुश्मन ने तुम्हें बता दी
यह 'एटमबम' की तैयारी ?

नौकर यदि हड़ताल करे तो
बात समझ में भी आती है।
लेकिन यदि 'सरकार' करे
हड़ताल बुद्धि तब चकराती है !

ओ मेरी सरकार ! बताओ
क्या मैंने अपराध किया है ?
क्यों चर्चिल-सी अक्ल तुम्हारी
लेबरमयी हुई जाती है ?

आज तुम्हें क्या हुआ सुहासिन
ये तुममें किसकी छाया है ?
अरी, सुनयने, बोल ? तुझे
किस कम्युनिस्ट ने बहकाया है ?

"मुझे कौन बहकाएगा, मैं
सब जग को बहका आऊंगी;
बात बनाओ नहीं, कदम अब
हर्गिज पीछे नहीं धरूंगी।"

"मेरी मांग तीन हैं, पहली—
रुपया-पैसा मैं रक्खूंगी।
कुल आमदनी का हिसाब
धेला-धेला तुमसे पूछूंगी।

मांग दूसरी है कि—काम
मेरे में दखल न दे पाओगे;
बात-बात में टांग अड़ाना
नहीं सहूंगी, नहीं सहूंगी ।"
मैं भी अब हड़ताल करूंगी...!

"मांग तीसरी है कि—तुम्हें
घर में भी हाथ बटाना होगा ।
दाल बीनना, चून छानना
कल से चाय बनाना होगा ।

पहले यह मंजूर करो,
पत्नी इस घर में दास नहीं है,
व्यास-फ्यास कुछ नहीं, तुम्हें
बस, 'बीवी-दास' कहाना होगा ।

एक इंच भी नहीं हटूंगी
नहीं किसीसे हेटी हूं मैं ।
लाटसा'ब तुम घर के होगे,
बड़े बाप की बेटी हूं मैं !

इस झगड़े का पंच-फैसला
भइया जब तक जांच न लेंगे,
तब तक समझौते की शर्तों
पर मैं हामी नहीं भरूंगी ।"
मैं भी अब हड़ताल...

४८

एक नई मुसीबत आई है !

(जनवरी, १९४७)

सोचा था पत्नी पर लिखकर
कुछ जग में नाम कमाऊंगा।
यह दुनिया पत्नी-पीड़ित है
कुछ इसको धीर बंधाऊंगा।
फिर अभी हास्य-रस के लेखक
भी इने-गिने मामूली हैं;
हिन्दी के अन्धों में मैं ही
काना सरदार कहाऊंगा !

कुछ यही समझकर के मैंने
'उन' पर कंट्रोल कराया था।
उस सूधी-सी ब्रजवासिनि को
स्टालिन-सी बतलाया था।
कहनी-अनकहनी बातें लिख
अखबारों में छपवाई थीं;
परमेश्वर 'उन्हें' बताकर के
पत्नीव्रत-धर्म चलाया था।

मैं हंसी-हंसी में कह बैठा—
है उनकी कमर कमानी-सी।

आंखें कमरख की फांखें-सी
भौंहें यमुना के पानी-सी
वे उठती हुई जवानी-सी
जब चलती हैं दिल चलता है;
वे मेरी कला-कल्पना हैं,
हैं रस की स्वयं कहानी-सी।

फिर क्या था, कविता के प्रेमी,
गुब्बारे जैसे फूल गए!
'जग्गो की जीजी' याद रही
बेचारे कवि को भूल गए!
मैं छब्बे बनने चला, मगर
दुब्बे भी हाय न रह पाया;
सारी मेहनत बेकार गई
सब हथकंडे प्रतिकूल गए!

अब दोस्त पड़े रहते पीछे
कहते हैं चाय पिलाओ तुम!
वे 'ऐजी-ओजी' कैसी हैं
हमको भी तो दिखलाओ तुम!
उस 'सोनचिरय्या' की चर्चा
ऐसी घर-घर में छाई है;
बूढ़े-बूढ़े भी कहते हैं—
अपना घर तो दिखलाओ तुम!

जिनको न कभी देखा, न सुना
अब उनकी चिट्ठी आती है!

भाई से पहले भाभी को
आदाब बजाई जाती है !
मेरी बीवी के बांटे में
देवर-ही-देवर आये हैं;
यह शकुन नहीं अच्छे साहब;
तबियत मेरी घबराती है।

ये देवरसाहब लिखते हैं—
अब के जब दिल्ली आएंगे।
तो अपना डेरा निश्चय ही
वे मेरे यहां लगाएंगे !
यह सौदा तो महंगा बैठा
घाटा है इस कविताई में;
ना, बाबा, हम ऐसी जोखिम
हरगिज़ भी नहीं उठाएंगे।

मैं किस-किसको दूं क्या जवाब ?
हर ओर मुसीबत छाई है !
पत्नी का सुन्दर होना भी
सौ आफत की जड़ भाई है !
मैं मित्रों के डर के मारे
स्थान बदलता रहता हूं,
अब किससे दिल का दर्द कहूं।
एक नई मुसीबत आई है !

४९

मुझको अपने घर पहुंचा दो !

(मार्च, १९४७)

"सारी दिल्ली में रात-रात,
अल्लाहो, हर-हर होती है।
तुम पड़े-पड़े ठर्राते हो,
मुन्नी डर-डर कर रोती है !

सामने बेचारी कृष्णा को,
लग गए दस्त, है परेशान,
नीचे वाले लालाजी की तो,
खुल-खुल जाती धोती है !

ये ऊंचे घर वाले ठाकुर,
तो रातों जागा करते हैं !
चूहे का भी खुटका हो तो,
लकड़ी ले भागा करते हैं !

और सतवन्ती के पति ने तो,
दफ्तर जाना ही छोड़ दिया !
घर में बैठे बस बातों की,
बन्दूकें दागा करते हैं !

दुनिया के पति अपने घर में,
सब बात बताया करते हैं।
जब जो कुछ भी सुन आते हैं,
फौरन दुहराया करते हैं।

पर तुम हो, बात पूछने पर,
करवट ले-लेकर सोते हो।
उलटा जिससे डर लगे,
इस तरह नाक बजाया करते हो!

ऐसी भी तो क्या नींद मरी,
जो सात बजे के सोते हो!
मैं खड़ी जगाया करती हूं,
पर टस-से-मस ना होते हो!

तुम तो पत्थर हो, पर मुझको,
लगता, "यह आये, वह आये"।
ना बाबा, आई बाज़, मुझे,
तुम टिकट आज ही कटवादो!"

मुझको अपने घर…

घर जाना हो बेशक जाओ,
पर नहीं नींद को कोसो जी!
खाओ, पीओ और मौज करो,
बच्चों को पालो-पोसो जी!

बारह घंटे का कर्फ्यू हो,
मैं सोलह घंटे सोता हूं।

ऐसी फुर्सत का समय कहो,
फिर कब आएगा सोचो जी ?

फिर झगड़े तो इस दुनिया में,
रूपसि, होते ही रहते हैं।
स्थित-प्रज्ञ मुझ जैसे नर,
कुछ हो, सोते ही रहते हैं।

फिर मुँह ढककर सोजाने में,
खतरा भी कम होजाता है,
ज्यादा जागृत चैतन्य मनुज,
देखा, रोते ही रहते हैं।

घबराओ नहीं, प्रिये, भारत को
जग में नाम कमाने दो !
दुश्मन तो अब बाकी न रहे,
भाई पर छुरा चलाने दो !

आज़ादी इन्हीं प्रयत्नों से
जल्दी ही आने वाली है;
पहले भारत की जनसंख्या,
कुछ तो थोड़ी होजाने दो!

५०

अब तो मुझको स्वीकार करो

(जनवरी, १९४८)

अब तो मुझको स्वीकार करो !
बस बहुत हुआ खोलो किवाड़, रस की बातें दो-चार करो !
मैं दो घंटे से खड़ा - खड़ा
कुण्डी - किवाड़ - झंकार रहा !
'ऐ सुनो', 'सोगईं क्या ?' 'खोलो',
रह-रह कर तुम्हें पुकार रहा ।
पर तुम पत्थर की हो मानो
जगती हो आंखें बन्द किये,
सारा पड़ोस जग गया कि मैं
चिल्ला - चिल्लाकर हार गया !
तुम मेरी नहीं, दूसरों की सुविधा का तनिक विचार करो !
अब तो मुझको…

ऐ हिटलर-दिल ! चर्चिल-दिमाग़ !
आखिर क्या हुआ बताओ तो ?
यह कर्फ़्यू क्यों-कर लगा ? मुझे
कुछ इसका भेद सुनाओ तो !
'तुम अल्टीमेटम दिये बिना ही
युद्ध शुरू कर देती हो,'

मैं समझ-सोचकर चलूं मुझे
अपने कानून सिखाओ तो ?
मैं स्वयं पराजित, हीनशस्त्र तुम अपना अस्त्र उतार धरो !
अब तो मुझको…

मैं सह लूंगा तुम चाय साथ में
आगे से मत पिया करो ।
मैं यह भी सह लूंगा सब्जी
मत मेरे दिल की किया करो ।
आखिर कुछ दिन तुम मत बोलो
है क़सम कि मैं भी बात करूं,
पर भागवान, पड़ रहने को
अन्दर तो आने दिया करो !
तुम मेरी इस लाचारी पर इतनी न तेज़ तलवार करो !
अब तो मुझको…

५१

मैं कविता लिखना भूल गया !

(जुलाई, १९४८)

मैं कविता लिखना भूल गया !

आखिर हिन्दी का लेखक था, होगई ज़रा-सी वाह-वाह !
दो-चार किताबें छपीं कि बस, गुब्बारे जैसा फल गया !

मैं कविता लिखना ...

तुकबन्दी क्या आई, खुद को
मैं अफलातून समझ बैठा !
अपने को ही मैं स्वयं हास्यरस
का मज़मून समझ बैठा !

इस कदर हो उठा प्रगतिशील
पगहा-बन्धन सब तोड़ दिये,

मेरठ के ही स्टेशन को, मैं
देहरादून समझ बैठा !
धरती पर टिके न पैर,
लपककर आसमान में झूल गया !

मैं कविता लिखना ..

फिर क्या था, बातों-बातों में
कवि कालिदास को मात किया !
खागए सूर-तुलसी चक्कर
जब मैंने दिन को रात किया !

और इस युग के कवि, अरे राम !
ये तो सब निरे अनाड़ी हैं !

कोई भी तो 'एक्सप्रेस' नहीं,
सब-के-सब भैंसागाड़ी हैं !
घबराकर लोचन मूंद गए,
जब डाल आँख में धूल गया !

मैं कविता लिखना ...

था अब तो मैं-ही-मैं केवल,
फैला केले का पत्ता-सा !
चिकना बैंगन-सा गोलमोल,
अकड़ा कुछ कुक्करमुत्ता-सा !

आलोचक कन्नी काट गए
सोचा भिड़ने में सार नहीं,

जो छेड़ दिया तो चिपट गया
बन गया बर्र का छत्ता-सा !
सज्जनता से सम्बन्ध मेरा
बिलकुल ही कट जड़मूल गया !

मैं कविता लिखना ...

लेखक-परिचय

श्री गोपालप्रसाद व्यास का जन्म महाकवि सूरदास के निर्वाण-स्थल पारासौली (मथुरा) में माघ शुक्ला दशमी, सम्वत् १९७२ वि० में एक वैष्णव ब्राह्मण परिवार में हुआ।

व्यापक जीवन-संघर्ष, देशाटन, साहित्यिक ग्रन्थों के पठन-पाठन, विद्वानों और कलाकारों के निरन्तर सम्पर्क ने इस प्रतिभा के धनी को जीवन में एक ओर कम्पोज़ीटर से सम्पादक और दूसरी ओर हिन्दी का एक विशिष्ट मौलिक साहित्यकार बना दिया। हिन्दी-जगत् में आपको 'हास्य रसावतार' कहकर विभूषित किया जाता है।

हिन्दी-साहित्य में आपके नाम से एक नया वाद (पत्नीवाद) प्रवर्तित हुआ है। भारत के शिष्ट व्यंग-विनोद लिखने वालों में आप अग्रणी हैं। गद्य और पद्य दोनों शैलियों में भारत की भाषाओं के अनेक लेखक आपका अनुकरण कर रहे हैं। आपकी रचनाओं का अनुवाद भारत की अनेक प्रान्तीय भाषाओं में हो चुका है।

व्यासजी ने हिन्दी भाषा के निर्माण में ही नहीं, उसकी पद-प्रतिष्ठा में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है। अखिल भारतीय ब्रज-साहित्य-मण्डल, भारतीय साहित्य कला-संसद, शनिवार समाज और राजधानी का हिन्दी-भवन आपकी क्रिया-शक्ति के जीवित उदाहरण हैं। आजकल आप दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मन्त्री और राजधानी की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक हलचलों के केन्द्र हैं।

आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६